पार्श्वनाथ शोधपीठ ग्रन्थमाला : ६९

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

2725

चारित्रसुन्दरगणि विरचित

शीलदूतम्

(हिन्दी अनुवाद सहित)

सच्चं लोगम्मि सारभूयं

भूमिका
पं० विश्वनाथ पाठक

अनुवादक
साध्वी प्रमोद कुमारी जी
पं० विश्वनाथ पाठक

पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी - ५
PĀRŚVANĀTHA ŚODHAPĪṬHA, VĀRĀṆASĪ-5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ शोधपीठ ग्रन्थमाला सं. 69 सम्पादक प्रो. सागरमल जैन

चरित्रसुन्दरगणि विरचित

शीलदूतम्

(हिन्दी अनुवाद सहित)

भूमिका
पं. विश्वनाथ पाठक

अनुवादक
साध्वी प्रमोद कुमारी जी
पं. विश्वनाथ पाठक

अनुवाद-सहयोग
पं. ब्रह्मानन्द चतुर्वेदी
डॉ. अशोक कुमार सिंह
डॉ. दीनानाथ शर्मा

पूज्य सोहनलाल स्मारक, पार्श्वनाथ शोधपीठ,
वाराणसी-५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुस्तक --

शीलदूतम् (हिन्दी अनुवाद सहित)

अनुवादक --

साध्वी प्रमोद कुमारी जी

पं. विश्वनाथ पाठक

प्रकाशक --

पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ

(काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा मान्यता प्राप्त)

आई. टी. आई. के समीप, करौंदी

पोस्ट -- बी. एच. यू., वाराणसी-5 (उ. प्र.)

पिनकोड -- 221 005.

फोन नं. -- 311462

संस्करण प्रथम -- 1993

मूल्य -- **बीस रुपये मात्र**

Sheeldutam

Prmod Kumari Ji

Pt. Vishvanath Pathak

Pujya Sohanlal Smarak Parshvanatha Sodhapitha, Varanasi-5.

मुद्रक --

पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ

वाराणसी-5.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में जैनाचार्यों का अवदान महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत साहित्य की प्रत्येक विधा पर उन्होंने कलम चलायी है। दूतकाव्यों के क्षेत्र में भी उन्होंने अनेक रचनाएं प्रस्तुत की हैं। इनमें जैन मेघदूत, शीलदूत आदि प्रसिद्ध हैं। जहाँ जैन मेघदूत में राजुल और नेमि का संवाद वर्णित है वहीं शीलदूत में स्थूलिभद्र और कोशा वेश्या का संवाद है। जैनाचार्यों की विशेषता यह है कि उनहोंने साहित्य के क्षेत्र में श्रृंगार की अपेक्षा वैराग्य को अधिक प्रमुखता दी है। शीलदूत भी एक शान्तरसपरक रचना है, जिसमें कोशा के प्रणय निवेदन की निष्पत्ति वैराग्य में रूपान्तरित होती है।

शीलदूत चारित्रसुन्दर गणि की रचना है। यद्यपि यह ग्रन्थ मूलरूप में शाह हरकचन्द भूराभाई के द्वारा सन् 1912 में बनारस से प्रकाशित हुआ था। उसके पश्चात् इसका कोई संस्करण नही निकला। इस मूल ग्रन्थ का सम्पादन पं. हरगोबिन्ददास जी एवं पं. बेचरदास जी द्वारा हुआ था। इसके पश्चात् इसका कोई अन्य संस्करण निकला हो तो यह हमें ज्ञात नहीं।

साध्वी श्री प्रमोद कुमारी जी जब अपने शोधकार्य के सन्दर्भ में वाराणसी आईं थीं तब उन्होंने संस्कृत के अध्ययन में अपनी रुचि प्रकट की। हमने उनसे शीलदूत के अध्ययन एवं अनुवाद के लिए निवेदन किया तदनुसार वे पं. ब्रह्मानन्द चतुर्वेदी के सहयोग से इस ग्रन्थ का अनुवाद करने लगीं। यद्यपि पं. ब्रह्मानन्द चतुर्वेदी जी के सहयोग से उन्होंने इस कार्य को पूर्ण किया, किन्तु अभी इसके संशोधन एवं सम्पादन की महती आवश्यकता थी। इस हेतु मैंने अपने सहयोगी डॉ. अशोक कुमार सिंह और डॉ. दीनानाथ शर्मा से अनुरोध किया तदनुसार उन्होंने अनुवाद को प्रकाशन योग्य बनाने के लिए उसका संशोधन किया। जब यह प्रयास चल ही रहा था, तब संस्कृत और प्राकृत के परम्परागत विद्वान पं. विश्वनाथ जी पाठक संस्थान से जुड़े मैंने इस ग्रन्थ को प्रकाशन योग्य बनाने का दायित्व उन्हें सौंपा। पं. जी ने पर्याप्त परिश्रम करके न केवल पूर्व अनुवाद का संशोधन किया अपितु आवश्यकतानुसार नया अनुवाद भी किया। इस प्रकार ग्रन्थ को प्रकाशन की दृष्टि से पूर्ण किया गया। इस प्रकार इस ग्रन्थ में साध्वीजी के अतिरिक्त अन्य विद्वानों का भी अवदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रकाशन की इस बेला में हम साध्वीजी सहित उन सभी के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। इस ग्रन्थ की कम्पोजिंग श्री बृजेश कुमार श्रीवास्तव ने किया और प्रूफ-संशोधन का कार्य पं. विश्वनाथ जी पाठक और डॉ. अशोक कुमार सिंह ने किया, अतः हम पुनः इन तीनों के प्रति अपना आभार ज्ञापित करते हैं।

- भूपेन्द्रनाथ जैन
मन्त्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शीलदूत

विषय-सूची

1. भूमिका	१ - ११
2. शीलदूत	१२ -४२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शीलदूतम्

भूमिका

मेघदूत महाकवि कालिदास की अप्रतिम रचना है। मन्दाक्रान्ता छन्द में उपनिबद्ध उस काव्य में विरही यक्ष के द्वारा अपनी प्रियतमा के पास प्रणय-सन्देश भेजने की रस-पेशल कल्पना की गई है। उसके भणिति-वैदग्ध्य, भाव, गाम्भीर्य और वस्तुविन्यास ने उत्तरवर्ती कवियों को इतना अधिक प्रभावाभिभूत कर दिया कि उसी के ढंग पर काव्य रचना की एक परम्परा ही चल पड़ी और संस्कृत साहित्य में इस प्रकार के काव्यों की संख्या सौ से ऊपर पहुँच गई। मेघदूत की मन्दाक्रान्ता-शैली, दूतकल्पना, सन्देश-प्रेषण और अभिधान (शीर्षक) का कवियों पर पृथक-पृथक या समवेत प्रभाव परिलक्षित होता है। दौत्य के लिये स्वेच्छा से मेघ के अतिरिक्त पवन, कपि, काक, शुक, पिक, वोक, देव, चकोर, चक्रवाक, चातक, झंझा, तुलसी, चन्द्र, वृक्ष, दात्यूह, पद्म, पदांक, पान्थ, बुद्धि, भक्ति, भ्रमर, मन, मयूख, मयूर, मित्र, मुद्गर, वक, कविता, विट, विप्र, श्येन, सुरभि, हरिण, हारीत, हृदय और चित्त आदि का चयन किया गया है। सन्देश का प्रतिपाद्य प्रणय, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और राष्ट्रप्रेम कुछ भी हो, उस के आधार पर इन काव्यों का नामकरण नहीं किया गया है। शैली का भी नामकरण पर कोई प्रभाव नहीं है। काव्यों के नामों में मेघदूत की अनुकृति दृष्टिगत होती है। सन्देश और सन्देश वाहक की सापेक्षता के कारण किसी काव्य के नाम में दूत शब्द का प्रयोग मिलता है, तो किसी में सन्देश का। अतः नाम के प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

रचना-वैशिष्ट्य के आधार पर यदि मेघदूत की प्रभाव-परिधि में प्रणीत समस्त काव्यों का अवलोकन करें तो उन के तीन स्वरूप स्पष्ट परिलक्षित होते हैं-- स्वतन्त्र दूतकाव्य, पाद पूर्त्यात्मक काव्य और केवल पादपूर्त्यात्मक काव्य।

स्वतन्त्र दूतकाव्य[1]

ये काव्य मेघदूत के आदर्श पर स्वतन्त्र रूप से रचे गये हैं। इन पर प्रायः मेघदूत की मन्दाक्रान्ताशैली, दूतकल्पना, सन्देश-प्रेषण और शीर्षक (नाम) इन चारों का पृथक्-पृथक् या समवेत प्रभाव है। कतिपय काव्यों में मन्दाक्रान्ता के स्थान पर शिखरिणी तथा शार्दूल विक्रीडित आदि वर्ण वृत्तों का भी प्रयोग दृष्टिगत होता है और कतिपय काव्य ऐसे भी हैं जो विविध छन्दों में उपनिबद्ध हैं। ऐसे काव्यों पर यद्यपि मेघदूतीय मन्दाक्रान्ता-शैली का लेश मात्र भी प्रभाव नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है तथापि उन में भी दूत कल्पना और सन्देश-प्रेषण अन्य काव्यों के समान ही है। दूत काव्यों का प्रिय रस विप्रलम्भ श्रृंगार है। परन्तु अनेक जैन और जैनेतर कवियों की कृतियों में शान्तरस और भक्ति का प्राधान्य है। जम्बू कवि का चन्द्रदूत, धोयी का पवनदूत, रूप गोस्वामी का हंसदूत, लक्ष्मीदास का शुक सन्देश, वासुदेव कवि का भृंग-सन्देश, उदण्डकवि का कोकिल सन्देश, उदय कवि का मयूर-सन्देश, विष्णुदास का मनोदूत, विष्णुदास का कोक सन्देश कृष्णसार्वभौम का पदांकदूत, भोलानाथ का पान्थ दूत, रूपनारायण त्रिपाठी का वातिदूत, गौर गोपाल का काकदूत, माधव कवीन्द्र का उद्धवदूत, हरिदास का कोकिलदूत, वेल्लंकोड रामराय का गरुड़सन्देश, लम्बोदर वैद्य का गोपीदूत, वागीश झा का चकोरदूत, अज्ञात कर्तृक चातक सन्देश, वेंकट कवि का चकोर सन्देश, श्रुतिदेव शास्त्री का झंझावात, त्रिलोचन कवि का तुलसीदूत, सिद्धनाथ विद्यावागीश का पद्मदूत, गोपेन्द्र नाथ गोस्वामी का पादपदूत, प्रो. वनेश्वर पाठक का प्लवंगदूत, सुब्रह्मण्यसूरि का बुद्धिसन्देश, कालीचरण का भक्तिदूत, प्रो. रामाशीष पाण्डेय का मयूखदूत, रंगाचार्य का मयूरसन्देश, वीर राघवाचार्य का मानससन्देश, प्रो. दिनेश चन्द्र का मित्रदूत, पं. राम गोपाल शस्त्री का मुद्गरदूत, महामहोपाध्याय अजितनाथ का वकदूत, वीरेश्वर का वाङ्मण्डनगुणदूत, अज्ञातकर्तृक विट्दूत, नारायण कवि का श्येनदूत, वीरवल्लि विजयराघवाचार्य का सुरभिसन्देश, वरदाचार्य का हरिण सन्देश, अज्ञात कर्तृक हारीतदूत, भट्टहरिहर का हृदयदूत आदि स्वतन्त्र दूत काव्य हैं, जिन के नामों से ही दूतों के कल्पना-वैविध्य का परिचय मिलता है।[२]

पादपूर्त्यात्मक दूतकाव्य

पादपूर्ति या समस्यापूर्ति काव्य रचना की एक अति प्राचीन विधा है। राजसभाओं और विद्वद्गोष्ठियों में इस का अत्यधिक प्रचार था। तत्क्षण समस्यापूर्ति कर देना प्रखर वैदुष्य का निकष माना जाता था। अनेक विदुषी कन्यायें अपने वर का चयन पादपूर्ति के माध्यम से करती थीं और स्वयं भी उस कला में पूर्ण पटु होती थीं। पंचम शती की प्राकृत कथा वसुदेवहिण्डी में विमला और सुप्रभा नामक दो कन्याओं के द्वारा 'ण दुल्लहं दुल्लहं तेरिसं।' इस समस्या की पूर्तियां दी गई हैं[3]--

आठवीं शती की रचना कुवलयमाला में राजकुमारी के द्वारा 'पंच वि पउमे विमाणम्मि।' इस समस्या की पूर्ति करने वाले राजकुमार कुवलय चन्द्र से विवाह करने का उल्लेख है। भोज प्रबन्ध में अनेक चमत्कारपूर्ण समस्यापूर्तियां सुरक्षित हैं। एक अनुश्रुति के अनुसार महाकवि कालिदास ने भी 'कमले कमलोत्पत्तिः श्रूयते न च दृश्यते।' इस श्लोकार्ध की पूर्ति 'बाले ते मुखाम्भोजे कथमिन्दीवरद्वयम्' कहकर की थी।

अनेक कवियों ने मेघदूत के श्लोकों या श्लोक-पादों को समस्या के रूप में रख कर भी दूत काव्यों का प्रणयन किया है। आठवीं शती में विद्यमान जैनाचार्य जिनसेन ने सर्वप्रथम मेघदूत की पादपूर्ति के रूप में पार्श्वाभ्युदय नामक प्रबन्ध काव्य लिखा। इस के पश्चात् मेघदूत की पादपूर्ति में ऐसे दूत काव्यों का प्रणयन प्रारम्भ हो गया जिन में प्रत्येक पद्य के चतुर्थपाद को समस्या मान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर शेष तीनों पादों की पूर्तियां उसी छन्द में की गईं। ऐसे सभी काव्य मन्दाक्रान्ता छन्द में हैं, क्योंकि मेघदूत की पादपूर्ति उसी छन्द में संभव है। दूतकल्पना और सन्देश-प्रेषण मेघदूत के समान इन में भी है। पादपूर्ति काव्यों के प्रणेता अधिकतर जैन कवि हैं। उन की रचनाओं में वैराग्य और निर्वेद को महत्त्व दिया गया है।

विमलकीर्ति का चन्द्रदूत, उपाध्याय मेघविजय का मेघदूत समस्यालेख, अज्ञात कर्तृक चेतोदूत, अवधूतराम योगी का सिद्धदूत और नित्यानन्द शास्त्री का हनुमद्दूत इसी कोटि की कृतियां हैं। इन में अन्तिम दो जैनेतर कवियों की रचनायें हैं।

केवल पादपूर्त्यात्मक काव्य

मेघदूत की पादपूर्ति के रूप में रचित जिन काव्यों में दौत्य या सन्देश-प्रेषण का सर्वथा अभाव है वे केवल पादपूर्त्यात्मक काव्य हैं। पार्श्वाभ्युदय, नेमिदूत और शीलदूत ऐसे ही काव्य हैं। मेघदूत की मन्दाक्रान्ता-शैली से प्रभावित इन काव्यों में दूतकाव्य का कोई भी लक्षण दृष्टिगत नहीं होता है। परन्तु विद्वानों की परम्परा इन्हें भी दूतकाव्य या सन्देशकाव्य मानती रही है। पार्श्वाभ्युदय तो नाम से भी दूतकाव्य नहीं प्रतीत होता। नेमिदूत और शीलदूत के नामों में दूत शब्द अवश्य जुड़ा है, परन्तु केवल नाम में दूत शब्द की उपस्थिति मात्र से कोई दूतकाव्य नहीं हो जाता है। उसके लिये दूत के द्वारा सन्देश-प्रेषण अनिवार्य है। वस्तुतः इन काव्यों का नामकरण दौत्य के आधार पर हुआ ही नहीं है। उक्त काव्यों की रचना मेघदूत की शैली में हुई है और पादपूर्ति के कारण उनके कलेवर का चतुर्थांश मेघदूत की ही पंक्तियों से निर्मित है। अतः उदारचेता कवियों ने उस ऋण को इंगित करने के लिये काव्यों के नामों में दूत शब्द जोड़ दिये हैं।

केवल पादपूर्त्यात्मक काव्यों में जैनाचार्य जिनसेन (आठवीं शती) का पार्श्वाभ्युदय सर्वाधिक प्राचीन है। पूर्वोक्त पादपूर्त्यात्मक दूतकाव्यों का भी मार्गदर्शक यही काव्य है। इसमें मेघदूत के समस्त श्लोकों के समस्त पादों की क्रमानुसार प्रौढ़ पूर्तियां की गई हैं। इस प्रकार का यह अकेला काव्य है। 364 मन्दाक्रान्ता वृत्तों में ग्रथित पार्श्वाभ्युदय को कवि ने स्वयम् 'परिवेष्टित-मेघदूत' की संज्ञा दी है। पूर्वजन्म का शत्रु कमठ नामक असुर नानासांसारिक भोगों के प्रलोभनों से तीर्थंकर पार्श्वनाथ की तपश्चर्या में उपसर्ग उपस्थित करता है किन्तु वे अपने अंगीकृत व्रत से लेश मात्र भी विचलित नहीं होते। यही इस काव्य की संक्षिप्त कथा वस्तु है। श्लोकों में मेघदूत के श्लोक-पादों को निम्नलिखित नौ स्थानों पर प्रयुक्त किया गया है --

१. केवल प्रथम पाद में
२. केवल द्वितीय पाद में
३. केवल तृतीय पाद में
४. केवल चतुर्थ पाद में
५. प्रथम और तृतीय दोनों पादों में
६. द्वितीय और तृतीय दोनों पादों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. प्रथम और चतुर्थ दोनों पादों में
८. द्वितीय और चतुर्थ दोनों पादों में
९. तृतीय और चतुर्थ दोनों पादों में

समग्र मेघदूत की पादपूर्ति होने के कारण पार्श्वाभ्युदय में किसी भी पूरणीय पाद का कोई नियत स्थान नहीं है। अतः श्लोकों के अन्त में (चतुर्थपाद में) मेघदूत के श्लोकों के चतुर्थ पाद के साथ-साथ अन्य पाद भी क्रमानुसार आते रहते हैं। इस के विपरीत उत्तरवर्ती पूर्तिकाव्यों में मेघदूत के श्लोकों के चतुर्थ पाद को अनिवार्य-रूप से श्लोकों के चतुर्थ पाद के रूप में ही रखने की पद्धति दिखाई देती है। इन परवर्ती पूर्ति काव्यों में रचनासरणि के आधार पर तीन विशेषतायें समान रूप से प्राप्त होती हैं --

१. मेघदूत के सभी पादों की पूर्ति नहीं की गई है।
२. श्लोकों के चतुर्थ पाद की ही पूर्ति की गई है।
३. मेघदूत के श्लोकों के चतुर्थ पाद को श्लोकों के अन्त में ही रखा गया है।

इस प्रकार केवल पादपूर्त्यात्मक काव्यों की दो शैलियां हैं। प्रथम शैली में मेघदूत के समस्त श्लोक-पादों की पूर्तियां की गई हैं और द्वितीय शैली में केवल प्रत्येक श्लोक के चतुर्थ पाद की पूर्ति है। पूर्वोक्त पार्श्वाभ्युदय प्रथम शैली का उत्कृष्ट निदर्शन है और अपनी पद्धति का एक मात्र उपलब्ध ग्रन्थ है। द्वितीय शैली में रचित दो काव्य उपलब्ध हैं -- नेमिदूत और शीलदूत।

नेमिदूत की कथा वस्तु तीर्थंकर नेमिनाथ से सम्बन्धित है। नेमिनाथ अपनी भावी-पत्नी राजीमती को विवाह-मण्डप में ही छोड़कर रैवतकपर्वत पर योगाभ्यास और तप करने लगते हैं। राजीमती पाणिग्रहण के पूर्व परित्यक्त होने पर भी नेमिनाथ को अपना पति मानती है। वह अपनी सखी के साथ रैवतकपर्वत पर जाती है और उनसे गृहस्थाश्रम में लौट कर सुखमय दाम्पत्य जीवन व्यतीत करने के लिये प्रार्थना करती है। राजीमती के द्वारा विषय-भोग के लिये विविध प्रकार से प्रेरित किये जाने पर भी जब नेमिनाथ द्रवीभूत नहीं होते तब उसकी सखी उनसे विनम्र निवेदन करती है। वह राजीमती की असह्य विरह-वेदना का हृदय-द्रावक वर्णन करती हुई नेमिनाथ के मन में दया भाव उत्पन्न करने का प्रयास करती है। अन्त में नेमिनाथ धर्मोपदेश देकर राजीमती को मोक्षमार्ग पर चलने के लिये अपनी सहचरी बना लेते हैं।

इस काव्य में दौत्य और सन्देश प्रेषण का अभाव है[4]। प्रस्तुत काव्य शीलदूत इस श्रृंखला का तृतीय काव्य है इसमें मेघदूत के श्लोकों के चतुर्थ पादों की पूर्तियां की गई हैं। दूत कल्पना और सन्देश-प्रेषण का नितान्त अभाव होने के कारण इसका स्वरूप भी केवल पादपूर्त्यात्मक है।

इस कमनीय काव्य के रचयिता चारित्र सुन्दर गणि हैं। कवि ने काव्य के अन्त में ग्रन्थ का रचनाकाल इस प्रकार दिया है --

द्रङ्गे-रङ्गैरतिकलतरे स्तम्भतीर्थाभिधाने
वर्षे हर्षाज्जलधि[3] भुज[4]गाम्योधि[5]चन्द्र[6]प्रमाणे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चक्रे काव्यं वरमिह मया स्तम्भनेशप्रसादात्
सद्भिः शोध्यं परहित परैरस्तदोषैररादात्।। 131 ।।

इस उल्लेख से विदित होता है कि कवि ने विक्रम संवत् 1484 में गुजरात के स्तम्भन तीर्थ (खंभात) में इस ग्रन्थ की रचना की थी। अनेक विद्वान् जलधि शब्द से सात की संख्या का ग्रहण कर काव्य-रचना का काल संवत् 1487 मानते हैं[5]। किन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि यदि जलधि का अर्थ सात है तो अम्भोधि का भी वही होना चाहिये। इस प्रकार रचनाकाल संवत् 1787 आता है जो कथमपि समीचीन नहीं है। परम्परानुसार जलधि अम्भोधि या समुद्रवाचक किसी भी शब्द का अर्थ चार ही होता है। अतः ग्रन्थ की रचना संवत् 1484 में हुई थी -- यही मानना संगत है।

शीलदूत के निम्नलिखित वर्णन से ज्ञात होता है कि चारित्र सुन्दर गणि सत्तपोगच्छ के नेता श्री रत्नसिंह सूरि के शिष्य थे --

सोऽयं श्रीमानवनिविदितो रत्नसिंहाख्यसूरि ---
जीयाद् नित्यं नृपतिमहितः सत्तपोगच्छनेता।। 129 ।।
शिष्योऽमुष्याखिलबुधमुदे दक्षमुख्यस्य सूरे -
श्चारित्रादिर्धरणिवलये सुन्दराख्याप्तसिद्धः ।
चक्रे काव्यं सुललितमहो शीलदूताभिधानं
नन्द्यात् सार्धं जगतितदिदं स्थूलभद्रस्य कीर्त्या।। 130 ।।

कवि ने शीलदूत के अतिरिक्त श्री कुमारपाल महाकाव्य, श्रीमहीपालचरित और आचारोपदेशादि अनेक ग्रन्थों की रचना की है।

शीलदूत की कथावस्तु

पाटलीपुत्र का निवासी मन्त्रिपुत्र स्थूलभद्र अपने पिता के निधन का समाचार सुन कर विषयोपभोग से विरत हो जाता है और रामगिरि के आश्रमों में निवास करने लगता है। भद्रबाहु से जैनधर्म की दीक्षा ग्रहण कर वह उन्हीं की आज्ञा से चातुर्मास व्यतीत करने के लिये अपने घर जाता है। उस की प्रियतमा कोशा देखते ही प्रमुदित हो उठती है और पुनः गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने का आग्रह करती है। वह कहती है, स्वामिन् यदि पुण्यार्जन ही आप का उद्देश्य है तो वह गृह में रहकर कूप, वापी, तडाग आदि के निर्माण से भी संभव है। अतः आप घर में रहकर दानादि के द्वारा पुष्कल पुण्योपार्जन करें। वृद्धावस्था में स्वेच्छा से तपश्चर्या के लिये वनवास ग्रहण करें। यही उचित है। जिनेन्द्र ने दया को सर्वश्रेष्ठ धर्म बताया है। आप निर्दयता पूर्वक अपने आश्रितों और बन्धुओं को त्याग रहे हैं, यह कौन सा धर्म है ? अपने परिजनों के परित्राण के लिये आप को मन्त्री का सम्मान्य पद स्वीकार कर लेना चाहिये। इससे ऐश्वर्य-भोग, प्रतिष्ठा और सुयश की प्राप्ति होगी। इस के पश्चात् वह अनेक पूर्वविहित विलास लीलाओं की उत्कट स्मृतियों को उद्बुद्ध करती हुई क्रीडाशैल पर विहार करने के लिये स्थूलभद्र से प्रार्थना करती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोशा के साश्रु वचनों को सुनने के पश्चात् स्थूलभद्र कहता है -- हे सुन्दरि ! मैं जैन धर्म स्वीकार कर चुका हूँ। मेरा मन विषयों से विरक्त है। युवावस्था का सौन्दर्य वृद्धावस्था में नहीं रह जाता। यह जगत् अनित्य है। अतः मैं धर्म में ही अपना कल्याण समझता हूँ। नारी मेरे लिये विष तुल्य है। मैं वीतराग हूँ।

स्थूलभद्र का कथन सुन कर कोशा की सखी चतुरा इस प्रकार कहती है -- हे सुभग ! क्या आप का हृदय इतना निर्दय हो गया है ? मेरी सखी पर आप को लेशमात्र भी दया नहीं आ रही है। इस ने कल्प के समान इतने दिन वियोग में रो-रो कर बिताये हैं और श्रृंगार का परित्याग कर दिया है। इसे सम्पूर्ण जगत् शून्य दिखाई देता है। दिवस तो व्यस्तता में किसी प्रकार कट जाते हैं परन्तु रात्रि की निस्तब्धता असह्य हो जाती है। यदि आप मेरा अनुरोध मान कर इस पर कृपा नहीं करेंगे और इस की अतृप्त आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं करेंगे तो यह अवश्य मर जायेगी।

चतुरा के वचन सुन कर स्थूलभद्र कोशा से पुनः कहता है -- आर्ये ! तुम जैन धर्म स्वीकार कर लो। मेरी दृष्टि में तृण समूह और नारी-दोनों तुल्य हैं। जैन धर्म स्वीकार कर लेने पर तुम्हारे मन में कोई दुःख नहीं रह जायेगा। तुम शील का पालन करो, सत्पात्रों को दान दो और तप से आत्मशुद्धि करो।

प्रिय के इन उपदेशों से कोशा का अज्ञान विनष्ट हो जाता है। उस की भोगतृष्णा विगलित हो जाती है। वह भक्ति से स्थूलभद्र के चरणों में गिर कर कामवासना को दग्ध करने वाली दिव्यौषधि की याचना करती है। स्थूलभद्र कोशा को जैन धर्मोपदेश के साथ-साथ भवभयहारी नमस्कार-मन्त्र प्रदान करता है और स्वयं गुरु के निकट चला जाता है। वह सूरीश का पद प्राप्त कर आजीवन जैन धर्म का प्रचार करता है। अन्त में उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। कोशा घर में ही रह जाती है। जैन-धर्म की शिक्षाओं का पालन करती हुई वह भी स्वर्ग में प्रिय के पास पहुँच जाती है।

उपर्युक्त कथा में कहीं भी न तो दूत की कल्पना की गई है और न सन्देश ही भेजा गया है। नायक और नायिका का साक्षात् संवाद वर्णित है।

शीलदूत और नेमिदूत

शीलदूत और नेमिदूत के वस्तुविन्यास और वर्णनों में पर्याप्त साम्य है। सखी की कल्पना दोनों काव्यों में है। नायिका का कथन समाप्त होने पर दोनों में समान रूप से सखी के द्वारा निवेदन कराया गया है। अलंकार योजना दृश्यविधान, पादपूर्ति पद्धति और वस्तु व्यापार वर्णन में साम्य होने पर भी दोनों का पार्थक्य स्पष्ट है। नेमिदूत में प्रणयोद्वेलित राजीमती स्वयं नेमिनाथ के निकट जाती है। शीलदूत का नायक निर्लिप्त एवं वीतराग स्थूलभद्र गुरु के आदेश से कोशा के निकट जाता है। नेमिदूत में नायक और नायिका का संवाद रैवतकपर्वत पर होता है। शीलदूत में दोनों अपने घर में मिलते हैं। नेमिदूत में नेमिनाथ राजीमती को मोक्ष मार्ग में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी सहचरी बना लेते हैं। इसके विपरीत शीलदूत में स्थूलभद्र कोशा को साथ नहीं ले जाता है, उसे घर पर ही छोड़ देता है। नेमिदूत में नेमिनाथ मोक्ष प्राप्त करते हैं और राजीमती भी उन के उपदेशों पर चलकर भव-बन्धनों से मुक्त हो जाती है। शीलदूत में स्थूल भद्र और कोशा दोनों स्वर्ग प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार दोनों काव्यों में फलागम की दृष्टि से प्रभूत अन्तर है।

समीक्षा

शीलदूत केवल पादपूर्त्यात्मक काव्य है। मेघदूत की पादपूर्ति होने पर भी इसमें पूर्व और उत्तर खण्डों का विभाजन नहीं है। पादपूर्ति में कवि स्वतन्त्र नहीं होता है। निर्दिष्ट पाद की पूर्ति कर देना ही उसका प्रमुख उद्देश्य रहता है। इससे प्रायः पूर्ति काव्यों में दुरुहता आ जाने की सम्भावना रहती है। शीलदूत इस दोष से सर्वथा मुक्त है। इस की उदात्त प्रासादिक शैली की सहजता से आभास ही नहीं होता कि यह एक पूर्ति काव्य है। वर्णनों की सरसता कल्पना की पेशलता, भावों का तारल्य, अलंकारों का समुचित विन्यास, रसानुकूल पदयोजना और छन्दों का उन्मुक्त प्रवाह देखते ही बनता है। पूर्तियों की सटीकता और स्वाभाविकता इसे मौलिक काव्य के स्तर पर पहुँचा देती है। कवि ने मेघदूत के विभिन्न प्रसंगों में प्रतिबद्ध श्लोकों की पादपूर्ति के निमित्त अलका के स्थान पर पाटलीपुत्र नगरी, गम्भीरा, निर्विन्ध्या और शिप्रा के स्थान पर गंगा और कैलास के स्थान पर क्रीडा-शैल की उद्भावना की है। उसने कोशा के विरह और प्रणय के वर्णन में रसानुकूल अनेक प्रसंगों की अवतारणा के द्वारा मौलिक प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है। काव्य में अनेक स्थलों पर तो मेघदूत के श्लोकों के समान ही वर्णन-भंगिमा दिखाई देती है। अनेक पूर्तियों में कवि ने मेघदूतीय श्लोक-पादों में अर्थ परिवर्तन कर अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। पच्चीसवें श्लोक में दशार्ण का दसजनों का ऋणी, ग्यारहवें में राजहंस का श्रेष्ठ राजा और एक सौ तेरहवें श्लोक में कृतान्त शब्द का सिद्धान्त के अर्थ में प्रयोग कवि के वैचक्षण्य का द्योतक है। कहीं-कहीं पूर्ति की प्रासंगिकता के लिये पूरणीय पाद में ईषत् परिवर्तन कर दिया गया है। उदाहरण के लिये इस श्लोक में गणपति के स्थान पर गुणपद का प्रयोग द्रष्टव्य है --

मा जानीष्व त्वमिति मतिमन् ! यद व्रतेनैव मुक्ति
लेभे श्वभ्रं व्रतमपि चिरं कण्डरीकः प्रपाल्य।
गार्हस्थ्येऽपि प्रिय भरतवद्धीत रागादिदोषाः
संकल्पन्ते स्थिर गुणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः ।। 59 ।।

इस प्रवृत्ति से पूर्तिकर्ता की अक्षमता सूचित होती है।

श्लोक संख्या दो में भद्रबाहु के लिये 'वप्रक्रीड़ा परिणत गजप्रेक्षणीयं' का प्रयोग मनोज्ञ नहीं है क्योंकि दोनों में साम्य का आधार नितान्त क्षीण है। इसी प्रकार एक सौ तीसवें श्लोक में उत्तमपुरुष में चक्रे क्रिया का प्रयोग भी खटकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शीलदूत खण्ड काव्य है। इसकी कथा वस्तु अत्यन्त संक्षिप्त है। स्थूलभद्र और कोशा प्रमुख पात्र हैं। चतुरा का उपयोग संवाद को गतिशील बनाने के लिये किया गया है। संवादात्मक होने के कारण इसमें घटना-वैचित्र्य के लिये कोई स्थान नहीं है।

काव्य की भाषा सरल और अकृत्रिम है। दीर्घ समासों और जटिल शब्दों का प्रयोग प्रायः नहीं है। एक स्थल पर अरिरे सम्बोधन अप्रचलित होने के कारण चित्र में वैरस्य अवश्य उत्पन्न कर देता है। काव्य की प्रासादिक शैली और प्रांजलता मन को मुग्ध कर लेती है। छन्दों का प्रवाह दर्शनीय है। अलंकारों का रसानुकूल प्रयोग किया गया है। बलात् अलंकार ठूँसने की प्रवृत्ति नहीं है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, श्लेषादि अलंकार नितान्त सहज भाव से आ जाते हैं। अधिकतर पूर्तियों में मेघदूत के ही अलंकार दिखाई देते हैं। एकहत्तरवें श्लोक में सरोग शब्द का श्लेष अति स्वाभाविक और अप्रयत्न-साध्य प्रतीत होता है।

काव्य में विप्रलंभ श्रृंगार का पूर्ण परिपाक दिखाई देता है। नायिका कोशा की विरहावस्था का मर्मस्पर्शी वर्णन प्रत्येक भावुक मन को द्रवीभूत कर देता है। चिन्ता, दैन्य वितर्क, स्मृति अभिलाष वितर्क आदि भाव विप्रलम्भ के अंग के रूप में आकर उसे परिपुष्ट करते हैं।

शीलदूत की कथा वस्तु शान्तरस के सर्वथा अनुकूल है। नायिका का विषयोपभोग के लिये निरतिशय लालायित एवं चपल मन अन्त में नायक के विरक्तिपूर्ण उपदेशों से उपशान्त हो जाता है। इतनी अनुकूल कथावस्तु ग्रहण करके भी कवि काव्य को शान्तरस-प्रधान नहीं बना सका। उसने विप्रलम्भ श्रृंगार का जिस तत्परता से विस्तृत वर्णन किया है उतनी तत्परता शान्तरस के वर्णन में नहीं दिखाई है। 131 श्लोकों के काव्य में लगभग 96 श्लोकों में विप्रलम्भ का परिपुष्ट वर्णन है। उस की अपेक्षा शान्त रस का संक्षिप्त वर्णन प्रभावहीन और निष्प्राण है। वह कतिपय श्लोकों में ही सीमित रहकर पंगु हो गया है।

शीलदूत का नायक वीतराग योगी है और नायिका है सांसारिक भोगों के लिये निरन्तर ललकती अतृप्त तरुणी। दोनों की चित्तवृत्तियों में आकाश और पाताल का अन्तर है। कवि ने नायिका के भाव परिवर्तन के पूर्व उसके हृदय के सूक्ष्म आन्तरिक द्वन्द्वों के मनोवैज्ञानिक चित्रण का लेशमात्र भी प्रयास नहीं किया है जिस से काव्य की स्वाभाविकता और रसात्मकता को पर्याप्त क्षति पहुंची है। साथ ही उसने नायक निष्ठ निर्वेद का ऐसा बिम्बग्राही एवं प्रभावशाली वर्णन भी नहीं किया है जिससे कोशा विषय-विरक्त हो जाती। काव्य के अधिकांश भाग में विप्रलम्भ श्रृंगार छाया हुआ है। अन्त में कतिपय श्लोकों में शान्तरस (निर्वेद) की सूचना दी गई है। "मैं ने जैनधर्म ग्रहण कर लिया है। मैं वीतराग हूँ। नारी मेरे लिये विष के समान है, तुम जैन धर्म स्वीकार कर लो।" इत्यादि वर्णनों से किसी विरह-दग्ध विलासिनी तरुणी के विचारों में परिवर्तन नहीं होता है और न यह शान्तरस का वर्णन है। यह तो एक प्रकार की सूचना मात्र है। कवि भावक होता है, सूचक नहीं। उसके कृतित्व का साफल्य श्रोता या पाठक को प्रतिपाद्य भाव की अनुभूति में तल्लीन कर देने में है, सूचना देने में नहीं। सूचना में बोध मात्र होता है, तल्लीनता नहीं होती है। रस का सम्बन्ध इसी तल्लीनता से है। शीलदूत के अन्तिम वर्णनों से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन उपशम या निर्वेद की अनुभूति में तल्लीन नहीं होता है अतः अनेक विद्वानों के द्वारा उसे शान्तरस प्रधान काव्य घोषित करना उचित नहीं लगता।

प्रस्तुत काव्य में स्थूलभद्र और कोशा विचारों के दो प्रतिकूल धरातलों पर स्थित हैं। दोनों के वैचारिक संघर्ष में स्थूलभद्र की विजय और कोशा की उपशान्ति ही काव्य के प्रतिपाद्य विषय हैं। अतः कवि को स्थूलभद्र के निर्वेद को अधिक महत्व देना था, किन्तु उसने कोशा के रति-भाव को ही भूरिशः पल्लवित किया है। इस से शान्तरस की अंगीरस के रूप में प्रतिष्ठा नहीं हो पाई, जो कि काव्य शास्त्रीय दृष्टि से अपेक्षित थी।

शान्त और श्रृंगार दोनों विरोधी रस हैं। परन्तु उनकी भिन्नाश्रयता और अंगांगिभाव में विरोध नहीं है। आचार्य आनन्दवर्धन ने लिखा है कि किसी भी विरोधी रस का अंगीरस (प्रधान रस) की अपेक्षा अधिक परिपोष करना अनुचित है। अंगभूतरस (अप्रधान रस) के परिपोष में न्यूनता होनी चाहिये। यदि शान्त रस अंगी हो तो श्रृंगार का और श्रृंगार अंगी हो तो शान्त का परिपोष न्यून कर देना चाहिये।[6] परन्तु कवि ने अप्रधान रस विप्रलम्भ श्रृंगार का परिपोष अधिक कर दिया है। इस स्खलन का प्रमुख कारण पादपूर्ति की विवशता है। घोर श्रृंगार में डूबे मेघदूत के श्लोकों की पादपूर्ति में शान्तरस के लिये कहीं भी स्थान नहीं था। कवि ने अपनी प्रतिभा से उसके लिये भी कुछ स्थल खोज लिये हैं। यही क्या कम है ?

विप्रलम्भ श्रृंगार के परिपाक और पादपूर्ति की सफलता की दृष्टि से शीलदूत का संस्कृत साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

- आचार्य विश्वनाथ पाठक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. भव भूति (आठवीं शताब्दी) मेघदूत की शैली से प्रभावित होने वाले प्रथम कवि हैं। उन्होंने किसी स्वतन्त्र दूतकाव्य की रचना तो नहीं की है, परन्तु मालतीमाधव में मेघदूत की कल्पना का पूर्ण रूपेण अनुकरण किया है। उक्त प्रकरण का नायक माधव मेघ के द्वारा मालती को मेघदूतीय-शैली में इस प्रकार सन्देश देता हुआ चित्रित किया गया है।

कच्चित् सौम्य ! प्रिय सहचरी विद्युदालिंगतित्वामाविर्भूत प्रणयसुमुखाश्चातका वा भजन्ते।
पौरस्त्योवा सूखयति मरुत्साधुसंवाहनाभिर्विष्वग्विभ्रत्सुरपतिधनुर्लक्ष्म लक्ष्मीवदेतत् ।।9/25

दैवात् पश्येर्जगति विचरन् मत्प्रियां मालतीं थे-
दाश्वास्यादौ तदनुकथयेर्माघवीयामवस्थाम्।
आशातन्तुर्न घ कथयतात्यन्तमुच्छेदनीयः
प्राणत्राणं कथमपि करोत्यायताक्ष्याः स एकः ।।9/25।।

इस वर्णन को हम लघु मेघदूत की संज्ञा दे सकते हैं।

२. डॉ. रविशंकर मिश्र ने जैन मेघदूत की भूमिका में दूतवाक्यम्, दूतघटोत्कचम् और नल चम्पू को भी दूत काव्यों की श्रेणी में रखा है। मेरे विचार से उक्त तीनों रचनायें दूतकाव्य की कोटि में नहीं आती हैं। सन्देश-प्रेषण अनादिकाल से मानव-प्रकृति का नैसर्गिक व्यापार रहा है। वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यों और लोकगीतों में भी सर्वत्र उसके दर्शन होते हैं। अतः सन्देश-प्रेषण मात्र से किसी रचना को मेघदूत से प्रभावित दूतकाव्य या सन्देशकाव्य की श्रेणी में रखना अनुचित है। शैली की दृष्टि से दूतवाक्यम् और दूतघटोत्कचम् रूपक हैं और मेघदूत से प्राचीन भी है। नल चम्पू की रचना गद्य-पद्य मिश्रित चम्पू शैली में हुई है।

3. विमलाभा --

मोक्खसुहं च विसालं, सव्वट्ठ सुहं अणुत्तरंजं च।
जे सुचरिय सामण्णा, ण दुल्लहं दुल्लहं तेसिं।। पृ. 288।।

सुप्रभा --

सल्ले समुद्धरित्ता, अभयं दाऊण सव्वजीवाणं।
जे सुट्ठिया दमपहे, ण दुल्लहं दुल्लहं तेसिं।। पृ. 288।।

4. नेमिदूत सांगण-पुत्र विक्रम कवि की कृति है। कवि का अनुमानित समय 14वीं शती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5-क. संस्कृत के सन्देश काव्य -- डॉ. राम कुमार आचार्य।

ख. वाराणसी से प्रकाशित मूल शीलदूत में श्री हर गोविन्द दास और श्री बेचरदास की संस्कृत भूमिका।

ग. जैन मेघदूत की भूमिका -- डॉ. रविशंकर मिश्र

6. विरोधिनस्तु रसस्याङ्गिरसापेक्षया कस्यचिन्न्यूनता सम्पादनीया। यथा-शान्तेऽङ्गिनि श्रृंगारस्य श्रृंगारे वा शान्तस्य।

- ध्वन्यालोक तृतीयोद्योत 80वीं कारिका की वृत्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शीलदूतम् हिन्दी अनुवाद सहित

भुक्त्वा भोगान् सुभगतिलकः कोशया सार्द्धमिद्धान्
धन्यो मान्यो निखिलविदुषां भद्रया स्थूलभद्रः ।
यक्के श्रुत्वा जनकनिधनं जातसंवेगरंगः
स्निग्धच्छायातरूषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ।। १ ।।

१. समस्त विद्वत्समुदाय में सम्माननीय, ऐश्वर्यशालियों में श्रेष्ठ एवं उत्तम स्थूल भद्र ने प्रियतमा कोशा के साथ उत्कृष्ट भोगों को भोग लेने पर जब पिता के निधन का समाचार सुना तब उन्हें वैराग्य हो गया और रामगिरि नामक पर्वत पर सघन छाया वाले वृक्षों से युक्त आश्रमों में निवास किया।

चित्ते मत्वा विषयनिचयं सत्वरं गत्वरं वै
गच्छन्नेषोऽध्वनि धनजिनध्यान संलीनचित्तः ।
शान्तं कान्तं रसमिव गिरौ श्रीगुरूं भद्रबाहुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ।। २ ।।

२. मन में विषयों की क्षणभंगुरता को जान कर मार्ग में चलते-चलते भगवान् जिन के ध्यान में वे (स्थूलभद्र) डूब गये। उस समय उन्होंने पर्वत पर कमनीय शान्तरस के समान उन सद्गुरु भद्रबाहु को देखा जो टीले को उखाड़ने के लिये पर्वत पर तिरछे दाँतों का प्रहार करने वाले गज के समान दर्शनीय थे।

शिक्षाकामं कृतनतिमसुं ध्वस्तकामं निरीक्ष्या
वख्यावेवं गुरूरूगिरा वत्स ! मोहं जयैतम् ।
संयोगेऽपि प्रभवति यतः प्राणिनामत्र दुःखं
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ? ।। ३ ।।

३. जिस का काम विकार ध्वस्त हो चुका था, उस शिक्षा की इच्छा वाले प्रणत स्थूलभद्र को देख कर गुरू ने श्रेष्ठ वाणी में इस प्रकार कहा -- 'वत्स ! यह मोह छोड़ दो। यहाँ संयोग में भी प्राणियों को दुःख होता है, अतः गले लगने की चाह सँजो कर जो दूर स्थित है उस प्रेमी के दुःख का क्या कहना है ?

धन्यं मन्ये मुनिपरिवृढात्मानमेनं किलाद्या-
ऽनिन्द्यं सद्यः परमसुखदं यन्नतं वः पदाब्जम् ।
पीत्वा हृद्यां विशदहृदयो देशनां सोऽपि सूरेः
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ।। ४ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. वे स्थूलभद्र भी सूरि (भद्रबाहु) के मनोहर उपदेशामृत का पान कर निर्मल-हृदय हो गये उन्होंने स्वयं आये हुये उन गुरु से प्रसन्न होकर प्रीतिपूर्वक यों कहा -- हे मुनिश्रेष्ठ ! मैं जो आप के निर्दोष एवं सद्यः सुखद चरणकमलों में प्रणत हुआ -- इस से निश्चय ही अपने को धन्य मानता हूँ।

कामान्धोऽहं तदिह बहुधा कर्म मोहादकार्षं
जानात्यन्यो न हि जिनपतेर्यद्विपाकं मुनीश ! ।
यावज्जैनीं वचनरचनां वा न विन्दन्ति तावत्
कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाऽचेतनेषु ।। ५ ।।

५. हे मुनिराज ! काम से अन्धा हो कर मैंने मोहवश वे अनेक कुकर्म किये हैं जिन के विपाक को जिन देव के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं जानता है। जब तक काम से पीड़ित जन जिन-वाणी को नहीं जानते हैं तब तक वे चेतन और अचेतन के स्वरूप के विषय में अनभिज्ञ रहते हैं।

जाने युष्मान् जिनपतिसमान् ज्ञानदानप्रवीणान्
रीणोऽमुष्मादनणुभवतो भावविद्वेषिजेतॄन् ।
याचे तस्माच्चरणशरणं वः शरण्याः ! रणघ्नं
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाऽधमे लब्धकामा ।। ६ ।।

६. हे आश्रय देने वाले ! चेतन और अचेतन के ज्ञान से वंचित मैं आप को भी जिन-देव के समान ज्ञान देने में दक्ष, महान् एवं राग-द्वेषादि मनोभावों का विजेता मानता हूँ। अतः संसार रूपी कर्म-रण को जीतने वाले श्री चरणों की शरण चाहता हूँ, क्योंकि गुणी से निष्फल याचना भी नीच से सफल याचना की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर है।

कृत्वा लोचं शिरसि सहसा पंचभिर्मुष्टिभिः स्वै-
र्लात्वा दीक्षां गुरुवचनतः सैष शिक्षामवेत्य।
गुर्वादेशादथ निजपुरीमागमत्तां यतिर्या
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ।। ७ ।।

७. अपनी पंचमुष्टियों से शीघ्र ही शिरके के केशों का लोच कर गुरु-मुख से दीक्षा और शिक्षा प्राप्त कर, गुरु (भद्रबाहु) के आदेश से वे यति अपने उस नगर में गये जिसके बाह्योद्यान में स्थित प्रासाद शिव के मस्तक पर स्थित चन्द्रमा की चन्द्रिका से धुले थे।

कोशा शस्याप्रकृतिरथ सा स्वप्रियं चाऽनुयान्ती
दध्यावेवं विविधवचनैरम्बया सांनिषिद्धा ।
तिष्ठेत् को वा ! स्वगृह इह हि प्रोषिते प्राणनाथे ?
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ।। ८ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. सुन्दर स्वभाव वाली, अपने प्रिय का अनुगमन करने वाली तथा अपनी माँ के द्वारा विविध वचनों से रोकी गई उस कोशा ने इस प्रकार विचार किया - हाय मेरे समान पराधीन न रहने वाली ऐसी कौन (स्त्री) होगी जो अपने प्रिय के दूर चले जाने पर भी घर में रूक सके।

प्राप्तं द्वारि प्रियतममथो वीक्ष्य सोचे प्रमोदा-
द्देवोत्तुंगं भज निजगृहस्यैनमग्र्यं गवाक्षम्।
स्निग्धच्छायं घनमिव जनानन्दनं यत्र संस्थं
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ।। ९।।

९. इसके पश्चात् वह कोशा प्रियतम को अपने द्वार पर आया देख कर हर्ष से बोली -- हे देव! आप अपने गृह के श्रेष्ठ एवं उन्नत गवाक्ष को ग्रहण करें, जहाँ आकाश में घनी छाया वाले मेघ के समान मनुष्यों को आनन्दित करने वाले और नेत्रों को सुन्दर लगने वाले आप की सेवा बलाकायें करेंगी।

अद्य श्वो वा सखि ! तव वरः स्थूलभद्रः समेता
स्वस्थं तस्मात् कुरू निजमनो मुंच मुग्धे ! विषादम्।
दध्रे प्राणानहमिति सखीभाषितैर्नाथ ! वाऽऽशा
सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रूणद्धि।। १०।।

१०. "हे सखिः तुम्हारे पति स्थूलभद्र आज या कल तक आ जायेंगे। अतः हे बावरी ! अपने मन को स्वस्थ रखो, खिन्नता का त्याग करो" हे नाथ सखियों द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर मैंने प्राणों को धारण किया है क्योंकि प्रिय के विरह में तुरन्त टूट जाने वाले अबलाओं के हृदय को आशा ही रोके रहती है।

स्वामिन्नंगीकुरू परिचितं स्वाधिकारं पुनस्तं
भोगान् भुङ्क्ष्व प्रिय ! सह मया साधुवेषं विहाय।
दोलाकेलिं किल कलयतः कौतुकात् काननान्तः
संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ।। ११।।

११. हे स्वामी ! आप अपने उस चिर- परिचित अधिकार को पुनः स्वीकार करें। हे प्रिय ! आप साधुवेश का परित्याग कर मेरे साथ विषयभोगों का सेवन करें। जब श्रावण मास में उद्यान के मध्य उल्लासपूर्वक हिंडोले पर क्रीडा करेंगे तब श्रेष्ठ भूपतिगण आप के सहायक होंगे।

पश्य स्वामिन्निजपरिजनं त्वद्वियोगार्त्तिदीनं
हीनं स्थाने जलविरहिते मीनवत्पीनदुःखम्।
त्वत्संयोगे मुदितमनसो वीक्षिता यस्य शस्याः
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुंचतो वाष्पमुष्णम्।। १२।।

१२. हे स्वामी ! अपने वियोग की व्यथा से दीन-हीन उस अपने परिजन को देखिये जिस का दुख जल-रहित स्थान में स्थित मीन के समान अत्यधिक बढ़ गया है। आज आप के पुनर्मिलन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से उस का मन मुदित हो उठा है और दीर्घकालीन विरह- जनित उष्ण अश्रु गिरा कर उस के उत्कृष्ट स्नेह की अभिव्यक्ति हो रही है।

मा जानीष्व त्वामिति मतिमन् ! संयमं मुंचतो में
नाशं यास्यत्यवनिविदिता कीर्त्तिविस्फूर्त्तिरेषा।
सिद्धिं याता पुनरपि यथा सिन्धुपूरः प्रदानैः
क्षीणः क्षीणः परिलघु पयः स्त्रोतसां चोपयुज्य।। १३।।

१३. हे बुद्धिमान् ! आप यह मत समझिये कि संयम को छोड़ देने से आप का यह विश्व-विख्यात यश-रूपी तेज नष्ट हो जायेगा। जिस प्रकार नदी का प्रवाह जल प्रदान करने के कारण क्षीण हो जाता है परन्तु सोतों के थोड़े-थोड़े जल को जोड़कर पुनः पूर्ण हो जाता है उसी प्रकार आप भी अभी संयम का त्याग करके कुछ समय के पश्चात् पुनः उस का पालन करें तो मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं।

जग्मुर्मुक्तिं कति न भरताद्याः समाराध्य दानं ?
भुंजन् भोगान् सुभग ! भव तद् दानधर्मोद्यतस्त्वम्।
कीर्त्या मूर्तीस्त्वमपि सितयन् स्वःश्रियां सिद्धिमेता
दिङ्दिङ् नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्।। १४।।

१४. क्या दानधर्म की सम्यक् आराधना करके भरतादि कितने व्यक्ति मोक्ष नहीं प्राप्त कर चुके हैं ? अतः हे सुभग ! आप भी भोगो को भोगते हुये दानधर्म में उद्यत हो जाएँ। इस प्रकार कीर्ति से दिग्गजों की आकृतियों को शुभ्रतर बनाते हुये और मार्ग में स्वर्ग की सुन्दरियों के हाथों का प्रचुर भोजन त्यागते हुये आप भी मोक्ष प्राप्त कर लेंगे।

स्वामिन् ! सिंहासनमनुपमं त्वं प्रसद्याश्रयेदं
नानारत्नद्युतिततिकृतस्फारचित्रं पवित्रम्।
येन स्निग्धं वपुरूपचितां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरूचिना गोपवेषस्य विष्णोः।। १५।।

१५. हे स्वामी ! आप विभिन्न प्रकार के रत्नों के प्रकाश से विस्तृत शोभा वाले पवित्र और अद्वितीय सिंहासन पर प्रसन्न होकर बैठिये, जिस से आप का मोहक शरीर मोर के पंख से विस्तृत शोभा वाले गोपवेशधारी भगवान् विष्णु के शरीर के समान कान्ति-पुंज को धारण कर लेगा।

मन्ये जज्ञे कुलिशकठिनं तावकीनं हृदेत
यस्मादस्मानपि नहि दृशा स्निग्धया पश्यसि त्वम्।
पश्येयं त्वां वदति सरसं सारिका देव ! मा मा
किंचित्पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण।। १६।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. ऐसा मानती हूँ कि आप का हृदय वज्र के समान कठोर हो गया है। इसीलिये आप मुझे अनुरक्त दृष्टि से नहीं देख रहे हैं। हे देव ! उत्तर की ओर किंचित् पीछे हटकर थोड़ी दूर पर देखें, यह सारिका भी आप से 'नहीं नहीं' कह रही है।

आलापैस्त्वां मृगय मुदितः कोमलैः कोकिलायाः
क्रीडारामो भवदुपचितः स्वागतं पृच्छतीव।
नो नीचोऽपि प्रणयनिभृते भाग्यलभ्ये चिराद्वा
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ?।। १७।।

१७. आप के आगमन से प्रमुदित यह क्रीडोद्यान कोकिलों की मधुर ध्वनि के द्वारा मानों स्वागत प्रश्न कर रहा है। नीच व्यक्ति भी दीर्घ काल के पश्चात् सौभाग्य से अपने प्रेमी मित्र के मिलने पर विमुख नहीं होता है तो फिर जो (उद्यान) उतना उन्नत (वृक्षों के कारण) है उस का क्या कहना है।

द्रघ्वे मासान्नव किल यया मध्यमध्ये सुधीमन् !
वृद्धिं नीतः सरसमधुराहारयोगाद् भवान् वा।
गेहस्थोऽपि प्रिय ! गुरुगुणां मातरं मानयैनां
सद्भावार्द्रः फलति न चिरेणोपकारो महत्सु।। १८।।

१८. हे बुद्धिमान् जिस ने आप को नौ मासों तक गर्भ में धारण किया और जिसने सरस एवं मधुर आहार के संयोग से आप को बड़ा बनाया उस श्रेष्ठ गुणों वाली माता की आज्ञा का पालन गृहस्थ होकर भी आप कीजिये क्योंकि महान् लोगों पर किया हुआ उपकार बहुत समय बीत जाने पर भी समाप्त नहीं होता है।

त्वय्यायाते धरणिरमणीसारशृंगाररूपे
प्रासादोऽयं प्रिय ! निजरुचा जेष्यति स्वर्गलोकम्।
विष्वक्शुद्धस्फटिकरचितस्त्विन्द्रनीलाग्रभागो
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः।। १९।।

१९. हे प्रिय ! भूतल की रमणियों में श्रेष्ठ सुन्दरी (अर्थात् कोशा) के श्रृंगाररूप आपके (स्थूलभद्र के) आ जाने पर चारों ओर से शुद्ध स्फटिक से जटित एवं अग्रभाग में नीलम से युक्त यह भवन पृथ्वी (रूपी रमणी) के अग्रभाग में नीले और शेष भाग में पीले वक्षस्थल के समान शोभित होकर सुन्दरता से स्वर्ग को भी जीत लेगा।

क्रीडाशैले कलय विपुले निर्झरालीं किलैतां
यत्रावाभ्यां श्रमहतिकृते क्रीडितं नाथ ! पूर्वम्।
यामालोक्याकलयति कलं चित्रमत्रत्यलोको
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमंगे गजस्य।। २०।।

२०. नाथ ! विस्तृत क्रीडा-पर्वत पर इस निर्झर-श्रेणी को देखिये जहाँ पहले हम दोनो श्रम दूर करने के लिये क्रीडा करते थे और जिस को यहाँ के लोग हाथी के शरीर पर रेखाओं से रचित सजावट समझते थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मा मुञ्चेदं धनमनिधनं नाथ ! सम्पूरिताशं
सर्वं चैनं निजपरिजनं त्वय्यतिस्नेहयुक्तम्।
नीतिज्ञोऽपि प्रथितमहिमन् ! वेत्सि नैतत्कथं यत् ?
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय।। २१।।

२१. हे नाथ ! आशाओं को पूर्ण करने वाले स्थायी धन और आप में अतिशय अनुरक्त इस परिजन को मत छोडिये। हे विख्यात-महिम ! आप नीतिज्ञ हो कर भी यह क्यों नहीं समझते कि सभी पदार्थ रिक्त होने पर लघु हो जाते हैं और पूर्ण होने पर भारी (गुरू) हो जाते हैं।

व्यापारं मा परिहर वर ! त्वं नृपश्रीशमं तं
प्राप्य क्लेशोपममिममहो ! संयमं मन्त्रिपुत्र !
मुञ्चेच्चिन्तामणिमिह हि कः काचमादाय यस्मिन् ?
सारंगास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम्।। २२।।

२२. हे श्रेष्ठ मन्त्रिपुत्र ! राजलक्ष्मी का शमन करने वाले क्लेशतुल्य इस संयम को प्राप्त कर उस व्यापार (ऐश्वर्य- भोग) का परित्याग मत कीजिये जिसमें जल-सीकरों को गिराते हुये गजेन्द्र तुम्हारे मार्ग की सूचना देंगे। अरे ! कौन यहाँ ऐसा है जो काच को लेकर चिन्तामणि का परित्याग कर दे।

तीव्रं यत्त्वं तपसि सुतपो देवलोकाशयेह
स्त्रीसम्भोगादपरमरिरे[1] ! नास्ति तत्रापि सौख्यम्।
गेहस्थस्तद्व्रय सुधिरं स्वर्गसौख्याधिकानि
सोत्कण्ठानि प्रियसहचरी संभ्रमालिंगितानि।। २३।।

२३. हे[2] अरिरे ! (काम क्रोधादि शत्रुओं को जीतने वाले) यहाँ आप स्वर्ग की आशा से श्रेष्ठ और उग्र तप कर रहे हैं तो उस (स्वर्ग) में भी स्त्रीसंभोग से बढ़ कर कोई सुख नहीं है, अतः गृहस्थ रह कर अपनी प्रिय सहचरी का उत्सुकता-पूर्वक हाव-भाव से युक्त स्वर्गसुखातिशायी आलिंगन कीजिये।

नीत्वा नीत्या कतिपयदिनं यौवनं गेहवासे
भुक्त्वा भोगानवनिवलये नाथ ! तत्वा स्वकीर्त्तिम्।
वार्द्धक्येऽथ प्रिय ! निजजनैः साश्रुदृग्भिर्व्रताय
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान् गन्तुमाशु व्यवस्येत्।। २४।।

२४. हे नाथ ! हे प्रिय ! कुछ दिनों तक गृहस्थाश्रम में रहकर नीतिपूर्वक यौवन व्यतीत कर भोगों को भोग कर और भूमंडल में कीर्ति का विस्तार कर पुनः वृद्धावस्था में जब आत्मीयजन साश्रु नेत्रों से स्वागत करें तब आप किसी प्रकार शीघ्र सन्यास के लिये जाने की चेष्टा करें।

ताते याते त्रिदशभवनं युष्मदाशानिबद्धा
ये जीवन्ति प्रिय ! परिहरंस्तान्न किं लज्जसे त्वम् ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयाभावात् त्वयि सति गते बान्धवास्तेऽस्तवित्ताः
संपत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः ।। २५ ।।

२५. हे प्रिय ! पिता के स्वर्ग चले जाने पर जो आप की आशा में बँध कर जी रहे हैं उन्हें छोड़ते हुये क्यों लज्जित नहीं हो रहे हैं ? आप के चले जाने पर आय के अभाव में जिन का धन नष्ट हो जायेगा उन दस व्यक्तियों के ऋणी बान्धवों के प्राण कतिपय दिनों तक ही ठहर पायेंगे।

भुंक्ते भोगान् किमिह न भवान् नन्दिषेणोऽपि तस्थौ ?
वेश्याऽऽवासे चिरविरचितं प्रोज्झ्य चारित्रमुच्चैः ।
मुह्येत् को नो शुचि सुललितं वीक्ष्य वा वारनार्य्याः
सभ्रूभंगं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ? ।। २६ ।।

२६. आप भोगों का उपभोग क्यों नहीं करते हैं ? नन्दिपेण भी दीर्घकाल से रचित चारित्र्य का त्याग कर वेश्या के घर में ठहर गये थे। बेतवा के चंचल तरंगयुक्त जल के समान वारवनिता के भ्रूभंगयुक्त स्वच्छ और सुललित मुख को देख कर कौन मोहित नहीं हो जाता है?

क्रीडाशैलो वर ! गुरुरयं राजते ते पुरस्ता-
च्चक्रे केलिः किल सह मया यत्र चित्रा त्वया प्राक् ।
स्निग्धच्छायैर्विमलसलिलैः सत्फलैर्यो जनाना-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ।। २७ ।।

२७. हे पतिदेव ! यह विशाल क्रीडा- पर्वत आप के समक्ष शोभित है जहाँ पहले आप ने मेरे साथ विचित्र क्रीडायें की थीं और जो स्निग्ध छाया विशुद्ध जल और सुन्दर फलों वाले शिलागृहों के द्वारा मनुष्यों के उत्कट यौवन को उद्दीप्त कर देता है।

अस्मिन् सान्द्रद्रुमचर्याचते पर्वते वर्त्तते ते
क्रीडोद्यानं सुरवनसमं नाथ ! सर्वर्तुकाख्यम् ।
स्वेदं शीतो हरति सुरभिः संमतो यत्र वायु-
श्छायाऽऽदानात् क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् ।। २८ ।।

२८. हे नाथ सघन वनों से व्याप्त इस पर्वत पर नन्दन वन के समान सर्वर्तुक नामक आप का क्रीडोद्यान है जहाँ वृक्षों की छाया ग्रहण करने के कारण क्षण भर में परिचित हो जाने वाला सुगन्धित, प्रिय और शीतल वायु पुष्प चुनने वाली कामिनियों के मुखों का स्वेद हर लेता है।

स्वामिन्नस्मिन् स्मरगृहसमे कानने तावकीने
कामक्रीडां विदधति समं निर्जराः सुन्दरीभिः ।
स्नेहस्निग्धैस्त्वमिह रतिदैवींक्षितोऽपि प्रियाणां
लोलापांगैर्यदि न रमसे लोघ्रनैर्वञ्चितोऽसि ।। २९ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९. हे स्वामी ! कामदेव के गृह के समान आप के इस उद्यान में देवगण सुन्दरियों के साथ क्रीडा करते रहते हैं। यदि यहाँ आप प्रियाओं के स्नेह-स्निग्ध, कामोद्दीपक, एवं चंचल कटाक्षों वाले लोचनों के द्वारा देखे जाने पर भी रमण नहीं करते हैं तो वंचित है।

लोलच्छाखाशयविलसितैस्त्वामिवाकारयन्ती
भृंगालापैरिव तव तपः साम्प्रतं वारयन्ती।
वृक्षालीयं कुसुमपुलकं दर्शयन्तीव पश्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयि वचनं विभ्रमो हि प्रियेषु।। ३०।।

३०. देखिये, यह वृक्ष-श्रेणी मानों शाखा-रूपी हाथों से आप को बुला रही है, मानों भ्रमरों के शब्दों में तुम्हें तप करने से रोक रही है और मानों पुष्पों के रूप में रोमांच का प्रदर्शन कर रही है। प्रिय के प्रति महिलाओं के हाव-भाव ही प्रारम्भिक वचन होते हैं।

हीनं दीनं सुभग ! विरहात् ते धुताऽऽहारनीरं
पश्येदं मे वपुरुपचितिं याति नान्यैः प्रयोगैः।
जाने नाहं बहु निगदितुं त्वद्वियोगर्त्तिजातं
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः।। ३१।।

३१. हे सुभग ! देखिये आप के वियोग के कारण भोजन और जल का परित्याग कर देने से दुर्बल मेरा शरीर अन्य युक्तियों से वृद्धि को नहीं प्राप्त हो रहा है। मैं अधिक बोलना नहीं जानती हूँ। आप के वियोग-दुःख से उत्पन्न कृशता जिस विधि से दूर हो जायें उसे आप को ही करना चाहिये।

गेहं देहं श्रिय इव भवत्कारितं भर्त्तरितद्
भाग्यैर्लभ्यं नय सफलतां स्वोपभोगेनं नाथ !
स्वल्पीभूते स्वकृतसुकृते नाकिनां भूगतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत् खण्डमेकम्।। ३२।।

३२. हे स्वामी लक्ष्मी के शरीर के समान यह गृह आप के द्वारा निर्मित है तथा भाग्य से प्राप्त हुआ है, इसे अपने उपभोग से सफल बनाइये। यह स्वकृत पुण्यों के स्वल्प हो जाने पर भूलोक में आये स्वर्गवासियों के शेष पुण्य से आहृत स्वर्ग के कान्तिमान् खण्ड के समान है।

अंगीकृत्य प्रिय ! गुरूतरां मन्त्रिमुद्रां समुद्रां
दानैरस्यां पुरि हर चिरं लोकदारिद्यमुद्राम्।
यत्रावन्त्यामिव सुरसरिद्धन्ति तापं च शीतः
सिप्रा-वातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः।। ३३।।

३३. हे प्रियतम ! मुद्रा (सिक्कों या रूपयों) से युक्त, महत्त्वपूर्ण मंत्री की मुद्रा (नामांकित अंगूठी या मोहर) को स्वीकार कर इस पाटलीपुत्र नगरी में चिर-काल तक लोगों की दरिद्रता का चिह्न् (मुद्रा) दूर करें। जैसे अवन्ती में रति के लिये प्रिय वचन कहने वाले प्रियतम के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समान शिप्रा का शीतल वायु संताप दूर कर देता है वैसे ही यहाँ देवनदी संताप दूर कर देती है।

पश्य स्वामिन् ! सुविपुलमिदं पाटलीपुत्रदुर्गं
गंगोत्संगे नृपतितिलकः कोणिकोऽस्थापयद् यत्।
यस्याऽग्रेऽहो ! विविधमणिभिः पूरितस्य क्षमायां
संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः ।। ३४ ।।

३४. हे स्वामी ! इस विस्तृत पाटलीपुत्र नगर को देखें। नृपति-श्रेष्ठ कोणिक ने गंगा की गोद में इस की स्थापना की थी। अहा ! विविध मणियों से पूर्ण इस नगर के आगे पृथ्वी पर समस्त समुद्र ऐसे लगते हैं जैसे उनमें अब केवल जल रह गया है (रत्न निकाल लिये गये हैं।)

आद्यं नन्दं नृपतिमवधीदत्र वैरोचनः प्रा-
गत्रारामः सततफलदोऽत्राभवत् तस्य राज्ञः।
अत्रोदायिप्रभुरपि हतः पापिना तेन दम्भा-
दित्यागन्तून् रमयति जनो यत्रबन्धूनभिज्ञः ।। ३५ ।।

३५. "पहले यहाँ वैरोचन नामक मन्त्री ने प्रथम नन्द नृप का वध किया था। उसी राजा का निरन्तर फल देने वाला उपवन था। यहीं उस पापी वैरोचन के द्वारा दम्भपूर्वक राजा उदायी भी मार दिया गया था" -- इस प्रकार वृतान्त को जानने वाला व्यक्ति नवागन्तुक बन्धुओं का मन बहलाता है।

खिन्नोऽसि त्वं चिरविचरणाद् दृश्यतेऽनीदृशस्ते
देहस्तन्नो निजपरिजनेनाऽमुना जल्पसि त्वम्।
हर्म्येष्वेषु प्रिय ! निवसनात् सज्जयास्मिंस्तनुं स्वां
नीत्वा खेदं ललितवनितापादरागांकितेषु ।। ३६ ।।

३६. हे स्वामी ! आप चिर विचरण से क्लान्त हो गये हैं। आप का शरीर पहले जैसा नहीं दिखाई दे रहा है। इसी से अपने उस परिजन से बात नहीं कर रहे हैं। हे प्रिय ! ललित कामिनियों के अलक्त से रंजित इन प्रासादों में रह कर अपना शरीर स्वस्थ कर लें।

द्रंगोत्संगे सगरतनयाऽऽनीतवाहां वहन्तीं
गंगामेतां सुभग ! मृगयालोलकल्लोलमालाम्।
घर्मस्वेदं हरति कुरुते या रतिं दाग् नराणां
तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ।। ३७ ।।

३७. हे सुभग ! इस नगर के निकट बहती हुई, चंचल तरंग-मालाओं वाली इस गंगा को देखें, जिस की धारा भगीरथ के द्वारा लायी गई थी। वह धूप और स्वेद हर लेती है और जल-विहार करती हुई तरुणियों के स्नान से सुवासित पवन से मनुष्यों में कामवासना उत्पन्न कर देती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वासं कुर्वन्नवनिविदिते नित्यरंगेऽत्र द्रंगे
गांगैर्नीरैरनिशममृतस्वादमावेत्स्यसि त्वम्।
गंगाघोषैः श्रुतिसुखकरैरन्वहं घाब्दजाना-
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम्।। ३८।।

३८. आप जगद्-विख्यात एवं नित्य सुखद इस नगर में गंगा के जल में सदैव अमृत का स्वाद अनुभव करेंगे और प्रतिदिन कानों को सुख देने वाले गंगा के कलनिनाद के द्वारा मेघों से उत्पन्न गम्भीर गर्जन का अखंड लाभ पायेंगे।

नो मुञ्चन्ति प्रिय ! निजकुलाचारभारं महान्तो
व्यापारं तत् कुरू गुरुममुं पूर्वजाघाररूपम्।
स्नेहाद्यस्मिन् सति हि समुदः पौरनार्योऽतिवर्या-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान्।। ३९।।

३९. हे प्रिय ! महान् लोग अपना कुलाचार नहीं छोड़ते हैं। अतः पूर्वजों का परम्परागत महत्वपूर्ण व्यवसाय स्वीकार कर लें। इस को स्वीकार कर लेने पर स्नेह से हर्षित नगर-नारियां भ्रमर- पंक्ति की तरह दीर्घ एवं वरणीय कटाक्ष तुम पर छोड़ेंगी।

पायं पायं श्रुत्रि सुललितं बन्धुवाक्यं पयो वा
स्वादं स्वादं सरसमधुराहारमेयाः प्रमोदम्।
स्वामिन् ! नित्यं शिव इव मया सस्पृहं वीक्ष्यमाणः
शान्तोद्वेगः स्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्याः।। ४०।।

४०. हे नाथ ! जिन्होंने पार्वती की दृढ़ भक्ति देख ली हो, उन शिव के समान लालसा-पूर्वक एकटक दृष्टि से मेरे द्वारा देखे जाते हुये आप निश्चिन्त होकर बान्धवों के मनोहर वचनों अथवा जल को ग्रहण करके और स्वादिष्ठ एवं मधुर आहार का आस्वादन करके आनन्द प्राप्त करें।

कार्या शश्वद् भृतिरिह मया वः पुरेत्युक्तिपूर्वं
पाणौ प्रादात् प्रिय ! किल भवान् यत्पयो मत्सखीनाम्।
गृह्णन् दीक्षां निजपरिजनं त्वं विमुञ्चन् क्षणात् तत्
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लावास्ताः।। ४१।।

४१. हे प्रिय ! पूर्व समय में "मुझे सदैव तुम लोगों का भरण-पोषण करना है।" इस प्रकार कहकर आप ने मेरी सखियों के हाथ में जो जल दिया था आज क्षण भर में प्रियजनों को छोड़ कर दीक्षा ग्रहण करते हुये, उस जल को गिरा कर मेघगर्जन सा शब्द मत करें क्योंकि वे भीरु हैं।

व्यापारस्ते यदि न हृदये संमतो ज्ञाततत्त्वे
वाणिज्येनार्जय धनचयं त्यागभोगक्षमं तत्।
अंके क्षिप्तानव तव पुराऽनेन पित्रा स्वबन्धून्
मन्दायन्ते न शलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः।। ४२।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४२. हे तत्त्वज्ञ-हृदय ! यदि आप को मन्त्रिपद प्रिय नहीं लगता है, तो वाणिज्य के द्वारा दान और भोग सम्पादन में समर्थ धन का अर्जन कीजिये। इस से पिता के द्वारा गोद में सौंपे गये स्वजनों की रक्षा कीजिये क्योंकि जो अच्छे मित्र होते हैं उनके द्वारा अंगीकृत उपकार के कार्य कभी शिथिल नहीं होते हैं।

पूर्वैः पूर्वे मम खलु समे मानिता ह्यस्य पूर्वं
तन्मान्योऽसौ सचिवतनयो मे जिघृक्षुस्तपस्याम्।
मत्वा नन्दो नृप इति चिरं त्वाऽनुनेतुं प्रमोदात्
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ।। ४३ ।।

४३. "मेरे पूर्वजों के द्वारा इस (स्थूलभद्र) के पूर्वज सम्मानित थे इसलिये तपस्या ग्रहण करने का इच्छुक यह मेरे मन्त्री का पुत्र सम्मान्य है।" यह मान कर राजा नन्द ने प्रसन्नता-पूर्वक तुम से मन्त्रिपद ग्रहण करने के लिये चिरकाल तक आग्रह किया किन्तु वह पद अस्वीकार कर देने पर वह (नन्द) विमुख होकर तुम से रूष्ट है।

दीक्षामेषा तव सुरनदी वारयत्यूर्मिरावैः
पश्य स्वामिन् ! बहुपरिचिता प्रेयसीवेयमुच्चैः।
अस्याः शस्याशयरयकृतान्यर्हसि त्वं न विद्वन् !
मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्त्तनप्रेक्षितानि ।। ४४ ।।

४४. हे स्वामी ! देखिये, बहु-परिचिता प्रेयसी के समान यह गंगा अपनी ऊंची तरंग-ध्वनियों से आप को दीक्षा लेने से विरत कर रही है। पवित्र मन की उत्कंठा से किये गये इस के चंचल शफरों (मत्स्य-विशेष) के उच्छलन (उछलना) रूपी दृष्टिपात को व्यर्थ न कीजिये।

कान्तावाचा चिरकृतमहो ! प्रोज्झ्य चारित्ररत्नं
भेजे भोगान् सुभग ! विततानाद्रपूर्वः कुमारः।
सोऽस्याद् गेहे प्रिय ! जिनमितान् वत्सरान् स्नेहतो वा
ज्ञातास्वादो विपुलजघनां को विहातुं समर्थः ?।। ४५ ।।

४५. हे सुभग ! हे प्रिय ! प्रियतमा के कहने से आद्र कुमार ने चिर-काल से पालन किये गये बहुमूल्य चारित्र्य को छोड़कर विपुल भोगों का सेवन किया था। वह प्रेम से चौबीस वर्षों तक घर में रह गया। कौन रसिक पुरुष विपुलजघना विलासिनी रमणी का त्याग कर सकता है ?

सूदर्कं तत्प्रिय ! मम वचो मानयित्वा गृहे स्वे
तारुण्यं त्वं नय विनयतः प्रार्थ्यमानः प्रियाभिः।
वर्षाकाले तव विहरतः शर्मकर्त्ता वनान्तः
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ।। ४६ ।।

४६. अतः शुभ परिणाम वाले मेरे वचन को मान कर विनय- पूर्वक प्रियाओं से प्रार्थित होते हुये आप युवावस्था व्यतीत करें। वर्षाकाल में जब वन में विहार करेंगे तब वन्य उदुम्बरों (गूलरों) को पकाने वाला शीतल पवन आप को सुख देगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंगीकृत्य प्रियतम ! महामात्यमुद्रां सुभद्रां
सान्द्रानन्दं कुरु निजपतिं नन्दनामानमेनम् ।
भूयाद् भूयस्तव जनकवत् शत्रुतृण्यावलीना-
मत्यादित्यं हुतवह ! मुखे संभृतं तद्धि तेजः ।। ४७ ।।

४७. हे प्रियतम ! कल्याण-जनक महामन्त्री के पद को अंगीकार करके अपने नन्द नामक स्वामी को अत्यधिक आनन्दित कर दें। हे शत्रु- रूपी तृण- समूह को भस्म करने वाले अग्नि ! आप के मुख पर सूर्य को भी तिरस्कृत करने वाला पिता के समान तेज पुनः संचित हो जाये।

क्षामं कामं तव वपुरभूत् तत्र तीव्रैस्तपोभि-
र्भक्त्या क्लृप्तं प्रियतम ! मया भोजनं तत् कुरु प्राक् ।
दक्षा नाट्ये जितसुरबधूर्नर्त्तकीर्मर्दलानां
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्त्तयेथाः ।। ४८ ।।

४८. प्रिय ! वहाँ तीव्र तपों से आप का शरीर क्षीण हो गया है अतः पहले भक्ति-पूर्वक मेरे द्वारा रचित भोजन ग्रहण करें। उसके पश्चात् पर्वतों में प्रतिध्वनित होने के कारण गम्भीर मृदंग ध्वनियों के द्वारा देवांगनाओं को जीतने वाली नाट्य कला में प्रवीण नर्तकियों को नचाऐं।

पुण्याय त्वं स्पृहयसितरां तत् परं नोपकारात्
स स्यात्प्रायः प्रियवर ! सरः कूपवापीविधानैः ?
कुर्याः श्रेयः प्रतिदिनमिदं तद् गृहस्थोऽपि लुम्पन् ।
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ।।49 ।।

४९. हे प्रियवर ! आप अत्यन्त पुण्य के लिये इच्छा कर रहे हैं। वह पुण्य परोपकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और वह उपकार सरोवर , कूप और वापी के निर्माण से होता है। अतः गृह में रह कर भी पृथ्वी पर स्रोत के रूप में परिणत रन्ति देव की कीर्ति को लुप्त करते हुये इस कल्याणकारी कार्य को करें।

यं तातस्ते पुरहितकृतेऽकारयच्छिल्पिसारैः
प्राकारं तं स्फटिकघटितं नाथ ! पश्याभ्रलग्नम्
यं वीक्षन्ते दिवि दिविषदो नीलवेषायुतं श्रा-
गेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ।। ५० ।।

५०. नाथ ! नगर की रक्षा के लिये आप के पिता ने कुशल शिल्पियों के द्वारा जिसे बनवाया था। उस आकाश को छूने वाले स्फटिक-रचित प्राचीर को देखिये। उस प्राचीर को आकाशस्थ देवता पृथ्वी की उस मौक्तिक माला के समान देखते हैं जिस के मध्य में स्थूल (बड़ा) इन्द्रनील मणि सुशोभित हो।

कामो वामं रचयतितरां यौवने नाथ ! चित्तं
योगाभ्यासोद्यतमतिभृतां योगिनामप्यवश्यम् ।
अंगीकुर्या वयसि चरमे धर्मभेदानतः स्वं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पात्रीकुर्वन् दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम्।। ५१।।

५१. हे नाथ ! युवावस्था में योगाभ्यास में प्रवृत्त बुद्धि वाले योगियों के भी चित्त को काम विपरीत बना देता है। अतः आप दशपुर की बधुओं के नेत्रों की उत्कण्ठा के विषय बन कर वृद्धावस्था में धर्म को स्वीकार करें।

औदासीन्यं परिहर ततः साम्प्रतं कातरार्हं
निश्चिन्तं तं कुरु निजपतिं वैरिवारं विजित्य।
युद्धे किं न स्मरसि घनवद् वैरिणां ते पिता य-
द्धारापातैस्त्वामिव कमलान्यभ्यवर्षद् मुखानि ?।। ५२।।

५२. तो अब कायरों के लिये उचित उदासीनता को छोड़ दें। शत्रु-समुदाय को जीत कर अपने उस स्वामी (राजा) को निश्चिन्त कर दें। क्या आप को स्मरण नहीं है कि जैसे मेघ धारारूप में आपके ऊपर जल की वृष्टि करता है उसी प्रकार आप के पिता ने युद्ध में शत्रुओं के (छिन्न) मुखों (शिरों) की वर्षा की थी।

सीदन्तं किं सदयहृदयोपेक्षसे बन्धुवर्गं
वाञ्छन् शुद्धिं त्वमिह विविधैर्दुस्तपैस्तैस्तपोभिः ?
दत्तैः पात्रे सततममले गेहिधर्मे स्ववित्तै-
रन्तः शुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः।। ५३।।

५३. हे दयालु-हृदय ! आप इस संसार में विविध दुष्कर तपों से शुद्धि चाहते हुये, अपने दुखी कुटुम्बियों की उपेक्षा क्यों कर रहे हैं। गृहस्थ-धर्म में निरन्तर सुपात्र को दान देकर भी आप का अन्तःकरण पवित्र हो जायेगा। आप केवल वर्ण से श्याम रह जायेंगे।

रत्वाऽऽवाभ्यां चिरमुपवने जातगात्रश्रमाभ्यां
सस्ने यत्र प्रिय ! कलजला स्वर्धुनी भाति सेयम्।
मुक्त्वा मां किं भ्रमसि भुवि येतीव फेनैर्हसन्ती
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता।। ५४।।

५४. उपवन में चिरकाल तक रमण करने के पश्चात् थक कर जहाँ हम दोनों ने स्नान किया था यह वही रम्यसलिला गंगा शोभित हो रही है, जिसने "मुझे त्याग कर भूतल पर क्यों भ्रमण करते रहते हो।" मानों इस प्रकार कह कर फेनों के द्वारा हँसते हुये, तरंगरूपी हाथों को चन्द्रमा पर लगा कर शिव का केश पकड़ लिया था।

अस्यां शस्याशय ! यदि भवान् नीरकेलिं प्रकुर्याद्
युक्तस्ताभिः प्रिय ! सह मया मद्यस्याभिरामिः।
धौतैरासां मृगमदभरैः कज्जलैर्वा तदेषा
स्यादस्थानोपगतयमुनासंगमेवाभिरामा।। ५५।।

५५. हे सुन्दर अभिप्राय वाले प्रिय ! यदि इस में उन लहरियों से युत होकर आप मेरी संखियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और मेरे साथ जल-क्रीडा करेगे तो उन के घुले हुये प्रचुर मृगमद (कस्तूरी) और काजलों से इस की ऐसी शोभा होगी जैसे बिना स्थान (प्रयाग) के ही वह यमुना से मिल गई है।

क्रीडां तत्र त्वयि रचयति प्रीतचित्ते नितान्तं
स्वर्णोच्छ्रंगीनिहित सलिलक्षेपणाद्यैर्विनोदैः ।
रोधः क्षुण्णं तव हयखुरैर्लप्स्यते नाथ ! तस्याः
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपंकोपमेयाम् ।। ५६ ।।

५६. हे नाथ ! वहाँ जब आप प्रसन्न- चित्त होकर स्वर्णिम पिचकारी में निहित जल के क्षेपण (फेकने) आदि विनोदों के द्वारा क्रीडा करेंगे तब आप के अश्वों के खुरों से भग्न उस (गंगा) का तट, शिव के श्वेत बैल से विदारित पंक के समान शोभा को प्राप्त कर लेगा।

धर्मेष्वाद्यामिह खलु दयामादिदेवो जगाद
प्रोज्झन्नेतां निजपरिजने वेत्सि धर्मं न सम्यक् ।
सीदन्तं तन्निजजनममुं पालय स्वार्जितैः स्वै-
रापन्नार्त्तिप्रशमनफलाः संपदो ह्युत्तमानाम् ।। ५७ ।।

५७. आदिदेव (ऋषभदेव) ने दया को आदि धर्म बताया है। क्या आप अपने परिजन को छोड़ते हुये उस दया को सम्यक् नहीं समझते हैं ? अतः अपने द्वारा अर्जित धन से अपने दुःखी लोगों का पालन कीजिये, क्योंकि महान् लोगों की सम्पत्ति दुःखी लोगों का दुःख शान्त करने के लिये ही होती है।

आसाद्येदं निजपितृपदं पालयिष्यत्यसौ नो
नूनं चित्ते सचिवसुहृदो ये विचार्येति तस्युः ।
प्राप्ते दीक्षां भवति बत ! तानाक्रमिष्यन्त्यमित्राः
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ? ।।५८ ।।

५८. "अपने पिता के पद को प्राप्त कर वह निश्चय ही हमारा पालन करेगा।" इस प्रकार विचार करके मित्र-मन्त्री बैठे थे, खेद है, वे सभी आप के दीक्षा ले लेने पर शत्रुओं के द्वारा आक्रान्त हो जायेंगे, क्योंकि निष्फल कार्य को प्रारम्भ करने वाले कौन (लोग) तिरस्कार के पात्र नहीं बन जाते।

मा जानीष्व त्वमिति मतिमन् ! यद् व्रतेनैव मुक्ति-
र्लेभे श्वभ्रं व्रतमपि चिरं कण्डरीकः प्रपाल्य ।
गार्हस्थ्येऽपि प्रिय ! भरतवद्वीतरागादिदोषाः
संकल्पन्ते स्थिरगुणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः ।। ५९ ।।

५९. हे बुद्धिमान् ! आप ऐसा मत समझिये कि व्रत से मुक्ति मिलती है। चिरकाल तक व्रत करने पर भी कण्डरीक पतन के गर्त में गिर गया था। हे प्रिय ! गृहस्थाश्रम में भी भरत चक्रवर्ती के समान वीतराग एवं दोषरहित श्रद्धावान् लोग समत्व पद की प्राप्ति में समर्थ होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रीडाशैलं प्रिय ! भज निजं तं विनोदाय यस्मिन्
शब्दायन्ते मधुरमनिशं कीचका वायुयोगात्।
नादज्ञस्याऽलमिव तव सत्किन्नरीगीतनृत्यैः
संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ।। ६०।।

६०. हे नाथ ! विनोद के लिये अपने उस क्रीडा- पर्वत का सेवन कीजिये जहाँ वायु के संयोग से कीचक नामक छिद्रयुक्त बाँस सतत ध्वनित होते रहते हैं। (वहाँ) शिव के समान नाद के विशेषज्ञ आप के संगीत के सभी अंग किन्नरियों के सुन्दर गीतों और नृत्यों से पूर्ण हो जायेंगे।

हित्वा स्वाद्रिं जिनपतिमहाचैत्यपूते प्रभूते
स्त्रीभिः सार्द्धं विबुधनिचया यत्र खेलन्ति नाथ !
तिर्यग्व्याप्यञ्जनगिरिरिवाभ्रं गतो भ्राजते यः
श्यामः पादो बलिनियमनाऽभ्युद्यतस्येव विष्णोः ।। ६१।।

६१. हे नाथ ! बहुत से जिन-मन्दिरों से पवित्र जिस क्रीडा- पर्वत पर देवगण सुमेरू पर्वत को छोड़ कर स्त्रियों के साथ विहार करते हैं और जो अंजन-गिरि के समान तिर्यक् (तिरछा) फैल कर आकाश में पहुँच गया है वह (क्रीडापर्वत) बलि को नियन्त्रित करने के लिये उद्यत विष्णु के श्यामल चरण के समान दीप्त हो रहा है।

शैले लीलागृहमिह महत् कारितं तेऽस्ति पित्रा
तस्मिन् वासं कुरू वर ! चिरं चेद्रतिर्नो तवाऽत्र।
श्वेतज्योतिः स्फटिकमणिभिर्निर्मितं भ्राजते य-
द्राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ।। ६२।।

६२. हे पतिदेव ! यदि यहाँ आप का मन नहीं लगता है तो इस शैल पर आपके पिता के द्वारा बनवाया हुआ महान् लीला-गृह है, उस में निवास कीजिये। वह स्फटिक मणि से निर्मित श्वेतकान्ति भवन ऐसा लगता है जैसे शिव के प्रत्येक दिन के अट्टाहास का ढेर लग गया हो।

त्वय्यारूढे रजतरचितं सारमुच्चैर्गवाक्षं
देहच्छायाजितहरिरूचौ द्यारु कृत्वा विनोदान्।
पश्यत्येष प्रिय ! परिजनः साधु सौधस्य शोभा-
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव।। ६३।।

६३. नाथ ! देह की कान्ति से विष्णु की छवि को जीतने वाले आप जब सुन्दर विनोद करके रजतरचित श्रेष्ठ गवाक्ष (खिड़की) पर आरूढ होंगे तब ये परिजन बलराम के कन्धे पर न्यस्त नीलाम्बर के समान प्रासाद की उत्तम शोभा देखेंगे।

तस्मिन्नद्रौ भवभयहरं नाभिजन्मानमीशं
नत्वा देवं तदनु सुभगाऽलोकयेः कौतुकानि।
आयान्त्या मे भवदनु पुनर्वर्त्म कुर्वन् सुगम्यं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी ।। ६४ ।।

६४. हे सुभग ! इस पर्वत पर संसार का भय दूर करने वाले ब्रह्मा (अथवा ऋषभदेव) को नमस्कार करने के पश्चात् कौतुक देखियेगा। मणि-शिखर पर चढ़ने के लिये जब आप आगे-आगे चलेंगे तब आप का अनुकरण करते समय मेरा मार्ग सुगम करते हुये सोपान (सीढ़ी) बन जाइयेगा।

श्रृंगे तस्मिन् नयनसुभगं वारुरूपा यदि त्वां
विद्याधर्यः स्मरविधुरिताः प्रार्थयेयुर्निरीक्ष्य।
अक्षोभ्यस्त्वं सुरयुवतिभिर्नाथ ! धिक्कारवाचा
क्रीडालोलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भाययेस्ताः ।। ६५ ।।

६५. हे नाथ ! आप देवताओं की तरूणियों के द्वारा भी क्षुब्ध नहीं हो सकते। उस पर्वत पर नयनों को सुन्दर लगने वाले आप को देख कर यदि काम पीडित विद्याधारियाँ क्रीडा के लिये चंचल होकर प्रार्थना करें तो धिक्कार के स्वर में कर्णकठोर गर्जना से उन्हें डरा दीजियेगा।

आरामेषु प्रिय ! विरचयंस्तत्र पुष्पावचायं
श्रान्तो भ्रान्त्या सुभग ! विदधद् दीर्घिकास्वम्बुकेलिम्।
वादित्राणां मधुरनिनदैर्नर्तयन् केकिवृन्दं
नानाचेष्टैर्जैलदललितैर्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम् ।।६६ ।।

६६. हे प्रिय ! हे सुभग ! वहाँ उद्यानों में पुष्प-चयन करते हुये चलते चलते जब आप थक जायें तब जलाशयों में जल-क्रीडा करते हुये वाद्यों के मधुर निनाद से मयूर-वृन्द को नचाते हुये मेघ के समान नाना सुन्दर चेष्टाओं वाली क्रीडाओं से उस पर्वत पर विहार करें।

आगच्छेः स्वां पुनरपि पुरे नाथ ! नीत्वा दिनानि
क्रीडाशैले कतिचिदसमां दर्शयन् स्वश्रियं ताम्।
यत्राभ्राप्तैर्वहति बहुलैर्धूपधूमैः सदा द्यौ-
र्मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ।।६७ ।।

६७. हे नाथ क्रीडापर्वत पर कुछ दिन व्यतीत कर अपनी अतुलनीय शोभा को दिखाते हुये पुनः अपने उस नगर को लौट आयें, जहाँ आकाश वायुमंडल में पहुँचे धूप के प्रचुर धूओं के मेघ-पुंज को यों धारण करता है जैसे कामिनी मुक्ताओं से ग्रथित कुंचित-केश को धारण करती है।

स्निग्धच्छायं बहुलविमलच्छायया शालमाना
नित्यामोदाः प्रविततमुदं भूरिवित्ताः सुवित्तम्।
रत्नज्योतिर्विधुततमसो नाथ ! निर्धूतापापं
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ।। ६८ ।।

६८. हे स्वामी ! जहाँ समान विशेषताओं के द्वारा प्रचुर निर्मल छाया (छाँह) से परिपूर्ण, नित्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुगन्धित, प्रभूत धनयुक्त एवं रत्नों की ज्योति से अन्धकार को दूर करने वाले प्रासाद, स्निग्ध कान्ति वाले, सतत प्रसन्न, शक्ति-सम्पन्न और पाप-हीन आप की तुलना करने में समर्थ हैं।

अर्हद्भक्तिर्वसति हृदये तारहारेण साकं
मूर्त्तौ कान्तिः स्फुरति च सदा शीलधर्मेण सार्द्धम्।
वित्ते सातं घनसमयजं विद्यते साम्प्रतं सत्
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्।। ६६।।

६६. जहाँ वधुओं के हृदय में मौक्तिक-हार के साथ जिन-भक्ति बसती है, आकृति में शील-धर्म के साथ कान्ति स्फुरित होती है तथा मन में आप के आगमन के कारण उत्पन्न सुख है और सीमन्त (माँग) में कदम्बपुष्प।

गंगागौराः सितकरहयाकारधौरास्तुरंगाः
श्रृंगोत्तुंगा ललितगतयो दानवन्तो गजेन्द्राः।
लीलावत्योऽखिलयुवतयो यत्र वीरावतंसाः
प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणाकैः।। ७०।।

७०. वहाँ गंगा के समान उज्ज्वल, चन्द्रमा के रथ के घोड़ों की आकृति वाले अश्व हैं, पर्वत के शिखर के समान ऊंचे, मतवाले और सुन्दर चाल चलने वाले हाथी हैं। वहाँ की समस्त युवतियाँ चंचल हैं और वहाँ के वीरों के शरीर पर अंकित तलवार (चन्द्रहास) के घाव, सुन्दर आभूषणों की शोभा को निराकृत करते हैं।

स्नेहादन्यद् न भवति परं बन्धनं यत्र किञ्चि-
च्चिन्ता काचिन्न भवति परा यत्र धर्मं विहाय।
कश्चिद् यस्मिन् न भवति परो राजहंसात् सरोगो
वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति।।७१।।

७१. जहाँ स्नेह के अतिरिक्त दूसरा कोई बन्धन नहीं है, धर्म के अतिरिक्त दूसरी कोई चिन्ता नहीं है, राज-हंस के अतिरिक्त कोई दूसरा सरोग (सरोवर में जाने वाला और रोगी) नहीं है, और धनियों की यौवन के अतिरिक्त कोई दूसरी अवस्था नहीं है।

वेणीदण्डो जयति भुजगान् मध्यदेशो मृगेन्द्रान्
यासामास्यं प्रिय! परिभवत्युच्चकैश्चन्द्रबिम्बम्।
धैर्त्ये नृत्यत्यतुलमसकृद् यत्र वारांगनास्ता-
स्त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु।। ७२।।

७२. जिन की वेणी भुजंगों को जीत लेती है, जिन की कटि सिंहों को जीत लेती है और जिन का मुख चन्द्रविम्ब को तिरस्कृत कर देता है वे वारांगनायें जहाँ धीरे-धीरे आपके समान गम्भीर-ध्वनि वाले पुष्करों (ढोल) के बजने पर बार-बार अनुपम नृत्य करती रहती हैं।

मालाग्रस्तैर्विविधकुसुमैः कुङ्कुमाक्तांङ्गिचिह्नै-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्ताम्बूलेन क्षितितलगतेनार्द्रजग्धेन यत्र।
हेमाम्भोजैः श्रवणपतितैर्भूषितैर्भूरिवासैः-
नैंशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम्।। ७३।।

७३. जहाँ सूर्योदय होने पर मालाओं से विच्युत विविध पुष्पों, कुङकुम-रंजित चरणों के चिह्नों, पृथ्वी पर पड़े अर्द्र-चर्वित ताम्बूलों और कानों से गिरे एवं प्रचुर सुगन्ध से भरे स्वर्ण-कमलों से कामिनियों (अभिसारिकाओं) का रात्रि-मार्ग सूचित होता है।

यत्र स्त्रीणां प्रणयिषु हठादाक्षिपत्सु क्षपायां
क्षौमं साक्षाद् मनसिजपराधीनतामागतेषु।
नित्योद्योतानपि मणिमयान् प्राप्य दीप्रान् प्रदीपान्
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरितश्चूर्णमुष्टिः।। ७४।।

७४. जहाँ रात्रि में साक्षात् काम के वश में पड़े हुये प्रियों के द्वारा हठात् वस्त्र खींच लिये जाने पर लज्जा से मूढ स्त्रियाँ जब चन्दनादि का सुगन्धित चूर्ण फेंकती है तब यह नित्य प्रकाश करने वाले मणिमय प्रदीपों पर पहुँच कर व्यर्थ हो जाता है।

यस्यां लोका विमलमनसः पूर्णकामाभिरामा
रामाः कामं ललितगमनाः कामनारीसमानाः।
वृक्षाः साक्षादतुलफलदाः कल्पवृक्षोपमेया
नित्यज्योत्स्नाप्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः।। ७५।।

७५. जहाँ मनुष्य पूर्णमनोरथ, सुन्दर और शुद्धचित्त हैं, जहाँ ललित गमन करने वाली स्त्रियाँ रति के समान हैं, जहाँ साक्षात् कल्प-वृक्ष के समान वृक्ष अतुल फल देते हैं और जहाँ रातों के अन्धकार को नित्य चाँदनी दूर करती रहती है।

यस्यामन्तः सुकृतरसिकाः पात्रदानप्रवीणा
एनोहीना विततविलसत्कीर्तयः सन्ति सन्तः।
वारस्त्रीभिः सह सुमुदिताः काममग्नाश्च कामं
बद्ध्वा यानं बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति।। ७६।।

७६. जहाँ सुपात्र को दान देने में पटु पुण्यवान् रसिक हैं, जहाँ सतत कीर्तिशाली निष्पाप सज्जन हैं और जहाँ कामवासना में मग्न, मुदित कामीजन यानों पर चढ़ कर वारांगनाओं के साथ बाह्योद्यान में विहार करते हैं।

गच्छंस्तूर्णं नभसि तरणिः शंकते नित्यमेवं
सौधेष्वेषु स्खलतु मम मा स्यन्दनोऽभ्रंलिहेषु।
मेघा यस्यामतिगुरुगृहैः प्राप्य संघट्टमाराद्
धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति।। ७७।।

७७. जहाँ आकाश में शीघ्र चलता हुआ सूर्य नित्य शंका करता है कि कहीं इन गगनचुम्बी सौधों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७७. जहाँ आकाश में शीघ्र चलता हुआ सूर्य नित्य शंका करता है कि कहीं इन गगनचुम्बी सौधों पर मेरा रथ स्खलित न हो जाये और जहाँ धूएँ की आकृति धारण करने में कुशल मेघ अत्युन्नत भवनों से टकरा कर टुकड़ें-टुकड़ें होकर दूर निकल जाते हैं।

यान्त्यो व्योम्नि त्रिदशललना वीक्ष्य यासां स्वरूपं
सर्वं गर्वं मनसि रचितं धारुतायास्त्यजन्ति।
मुग्धा दुग्धोपचितवपुषः कुट्टिमेष्वस्तखेदं
संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः ।। ७८ ।।

७८. जहाँ दुग्ध के समान गौर और पुष्ट शरीर वाली देवताओं के द्वारा प्रार्थित वे मुग्धाकन्यायें फर्शों पर बिना थके, मणियों से खेलती रहती हैं, जिन का रूप देख कर आकाश में जाती हुई देवांगनायें मन में स्थित, सुन्दरता का सम्पूर्ण गर्व त्याग देती हैं।

धर्मस्वेदं सुरतजनितं योषितां यत्र रात्रौ
जालायातैः स्वगृहवलभीमध्यबद्धस्थितीनाम्।
सारैस्ताराधिपतिकिरणैश्चोद्योतिता द्योतिताशै-
र्व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः ।।७९ ।।

७९. जहाँ रात्रि में झरोखों से आई हुई दिशाओं को उद्योतित करने वाली, मनोरम चन्द्रकिरणों के द्वारा पिघल कर प्रत्यक्ष जल-बिन्दु टपकाने वाली चन्द्रकान्त मणियाँ, अपने भवन के छत पर स्थित कामिनियों का सुरत-जन्य प्रस्वेद दूर कर देती हैं।

काले वर्षन्नवनिवलयं सस्यपूर्णं वितन्वन्
वाञ्छातुल्यं दिशति सलिलं यत्र धाराधरोऽपि।
त्यागो यस्यां धनिभिरनिशं दीयमानोऽर्थिनां द्रा-
गेकं सूते सकलमबलाऽऽमण्डनं कल्पवृक्षः ।।८०।।

८०. जहाँ मेघ भी समय पर बरसते हुये एवं धरा को शस्यों से परिपूर्ण करते हुये इच्छानुकूल जल देता है। जहाँ सदा धनियों के द्वारा दिया जाता हुआ दान- रूपी कल्प- वृक्ष शीघ्र याचकों की स्त्रियों के अनुपम आभूषण उत्पन्न कर देता है।[1]

तिष्ठन्नस्यां पुरि विजयजं नाथ ! सौख्यं भज त्वं
कुर्वन् धर्मं भवति सफलं येन जन्मद्वयं ते।
हित्वा चापं युवतिषु चिरं यत्र कामोऽपि तस्थौ
तस्यारम्भश्चतुरवनितालोचनैरेव सिद्धः ।। ८१ ।।

८१. हे नाथ ! इस नगरी में रहते हुये एवं धर्म करते हुये विजय के द्वारा उत्पन्न सुख का सेवन करें जिस से आप के दोनों जन्म (ऐहिक और आमुष्मिक) सार्थक होंगे। यहाँ कामदेव भी धनुष छोड़ कर तरूणियों में ठहर गया है, क्योंकि उस का कार्य चतुर वनिताओं के लोचनों से ही पूर्ण हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्यद्वाष्पं वच इति चिरं प्रोच्य तस्यां स्थितायां
सोऽवोचत् तामभजममलं तन्व्यहं जैनधर्मम् ।
स्वर्गोऽप्यस्माद् मम स न मताश्चिन्तितं यत्र दत्ते
हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमन्दारवृक्षः ।।८२।।

८२. जब इस प्रकार अश्रुसहित कहती हुई कोशा चुप हो गई तब उस (स्थूल- भद्र) ने उस से कहा -- कृशांगि ! मैंने निर्मल जैन धर्म स्वीकार कर लिया है। इस धर्म के अतिरिक्त उस स्वर्ग की भी मैं कल्पना नहीं करता जहाँ हाथ से मिलने वाले गुच्छों से झुका हुआ लघु कल्प-वृक्ष मनोवांछित मनोरथ प्रदान करता है।

कृत्याकृत्यं गणयति भवान् हन्त ! येषां कृते नो
दृष्ट्वा हृष्यत्यनुदिनमलं खिद्यते यानऽदृष्ट्वा ।
प्राप्तं प्राप्तं स्वजननिचयास्तेऽप्यहो ! सत्सरोवद्
न ध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः ।। ८३ ।।

८३. (कोशोक्ति) आप जिनके लिये कृत्य और अकृत्य की गणना नहीं करते थे, जिनको देख कर प्रसन्न हो जाते थे और जिन्हें न देखकर अत्यधिक दुःखी हो जाते थे वे ही स्वजन-समूह निकट पहुँचा हुआ देख कर भी शोक- रहित होकर आप पर उस प्रकार ध्यान नहीं देंगे जिस प्रकार हंस सुन्दर सरोवर पर ध्यान देते हैं।

निःसंगानां गुणफणभृतां यो मया श्रीगुरूणा-
मेवं मुग्धे ! भवभयहरोऽश्राविपुण्योपदेशः ।
हारेणेव द्युतिततिभृताऽप्यत्र शश्वद् मनोऽन्तः
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ।।८४।।

८४. (स्थूल भद्रोक्ति) मुग्धे ! मैं अनेक श्रेष्ठ गुणों को धारण करने वाले अनासक्त गुरूदेव का भवभयहारी उपदेश सुन चुका हूँ। (अतः) प्रकाश-रेखा को धारण करने वाले हार के कारण यहाँ निकट स्फुरित बिजली के समान तुम्हें देख कर भी मैं उसी उपदेश का स्मरण कर रहा हूँ।

जिग्ये कामः सुतनु ! स मया शीलमासाद्य यस्मात्
संज्ञाहीनौ रसकुरुवकावप्यहो ! स्तः सरागौ ।
नार्या एकोऽभिलषति भृशं दर्शनं मण्डिताया
वाञ्छत्यन्यो वदनमदिरां दोहदाच्छद्मनाऽस्याः ।।८५।।

८५. हे सुतनु ! शील (ब्रह्मचर्य) को प्राप्त कर मैंने उस काम को जीत लिया है। अतः वासना-युक्त रस (प्रेम) और रक्ताभ कुरबक-दोनों निष्प्राण हो चुके हैं। उन दोनों में एक (रस) विभूषित नारी का अति दर्शन चाहता है तो दूसरा (कुरवक) दोहद (पुष्पोद्गम के समय की इच्छा) के व्याज से उस (नारी) के मुख से गिराई हुई मदिरा।

नीरागं मे समजनि मनो ज्ञाततत्त्वस्वरूपं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेनेदानीं न विषयरसो बाधते कुत्रचिन्माम् ।
पश्याम्येनामपि वनसमां चित्रशालां खलूच्चै-
र्यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद् यः ।। ८६ ।।

८६. तत्वों का यथार्थ बोध हो जाने के कारण मेरे मन में राग (वासना या आसक्ति) नहीं रह गया है। इसी से मुझे संसार के विषय-भोग आकर्षित नहीं करते हैं। तुम्हारा मित्र मयूर जिस में रहता है उस चित्रशाला को भी मैं बन के समान देखता हूँ।

यत्तारूण्ये सति वपुरहो ! विभ्रमं भूरि धत्ते
पुष्टं मुग्धे ! सरसमधुराहारयोगेण शश्वत् ।
अन्यादृक् स्यात् तदपि ह्य गते यौवने देहभाजां
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ।।८७।।

अहो ! प्राणियों का जो शरीर युवावस्था रहने पर सदा विविध आहारों के संयोग से पुष्ट होने के कारण प्रचुर विभ्रम (विलास, हाव-भाव) को धारण करता है वह भी युवावस्था चली जाने पर अन्य प्रकार का हो जाता है। सूर्य के अभाव में निश्चय ही कमल अपनी पूर्ण शोभा को नहीं धारण करता है।

मत्वाऽनित्यं जगदिति मनो मे विलग्न जिनोक्ते
धर्मे शर्माभिलषति परं शाश्वतं शुद्धचिते !
मुग्धे ! स्निग्धां रचयसि मुधा मामुदीक्ष्य स्वकीयां
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ।।८८।।

८८. हे शुद्ध-चित्ते ! जगत् को अनित्य मान कर जिनोक्त धर्म में लगा मेरा मन श्रेष्ठ एवं शाश्वत् आनन्द की इच्छा करता है। मुझे देखकर तुम व्यर्थ ही अपनी विद्युत् की कौंध के समान दृष्टि को जुगनू की पंक्ति के समान चमकने वाली क्यों बना रही हो।

नारी यस्मिन्नमृतसदृशी मे बभूवाद्य यावद्
रागग्रस्ते मनसि मदनव्यालविध्वस्तसंज्ञे ।
ध्वस्ते रागे गुरूभिरभवत् क्ष्वेडवत् साऽप्यनिष्टा
या तत्र स्याद् युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ।।८९।।

८९. कामरूपी सर्प के द्वारा नष्ट संज्ञा (बोध, ज्ञान) वाले मेरे जिस प्रेमी मन में आज तक नारी अमृत के समान थी, अब गुरु के द्वारा प्रेमशून्य कर दिये जाने पर उसी मन में वह स्त्री भी विष के समान लगती है जो संभवतः विधाता की प्रथम रचना के समान सुन्दर है।

अज्ञानं मे सपदि गलितं मोहमूर्च्छाऽप्यनेश-
ज्जातं चित्तं सुतनु ! मम तन्निर्विकारं क्षणेन ।
स्वस्रा मृत्योरिव हि जरसा ग्रस्यमानां तनुं स्वां
मन्ये जातां तुहिनमथितां पद्मिनीं वाऽन्यरूपाम् ।।९०।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६०. हे सुन्दर शरीर वाली ! मेरा अज्ञान शीघ्र गलित हो गया, मोह की मूर्च्छा भी नष्ट हो गई है, मेरा वह चित्त क्षणभर में निर्विकार हो गया है। अतः मृत्यु की बहन वृद्धावस्था के द्वारा ग्रस्त किया जाता हुआ अपना शरीर तुषार से ध्वस्त कमलिनी के समान रूपान्तर को प्राप्त मानता हूँ।

तस्मिन्नेवं वदति चतुरोवाच तस्या वयस्या
जातं किं तं सुभग ! हृदयं निर्दयं बाढमेतत् ?
पश्याऽस्यास्त्वं तव विरहतो यक्त्रमभ्रास्तदीप्ते-
रिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्त्ति ।।६१।।

६१. स्थूलभद्र के इस प्रकार कहने पर कोशा की चतुरा नामक सखी ने कहा -- हे सौभाग्यशाली ! आप का हृदय दया-विहीन हो गया है, क्या यह उचित है ? देखें, आप के अनुसरण से क्षीण कान्ति वाली इस कोशा का मुख उस चन्द्रमा के समान दयनीय दशा को प्राप्त हो गया है जिस की दीप्ति मेघों ने समाप्त कर दी है।

एषाऽनैषीत् सुभग ! दिवसान् कल्पतुल्यानियन्तं
कालं बाला बहुलसलिलं लोचनाभ्यां स्रवन्ती।
अस्याद् दुस्था तव हि विरहे गामियं वार्त्तयन्ती
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके ! त्वं हि तस्य प्रियेति।।६२।।

६२. हे सुभग ! लोचनों से अत्यधिक आँसू बहाती हुई इस कोशा ने कल्प के समान दिनों को इतने समय तक बिताया है। आप के विरह में "रसिके ! क्या तू स्वामी का स्मरण करती है ? तू तो उन्हें बहुत प्रिय थी।" इस प्रकार मुझ से कहती हुई यह कठिनाई से (जीवित) रह सकी है।

मूर्च्छान्ते सा सुभग ! रुदती वारिता दीननादं
प्रातः सायं सखि ! वद कदाऽसौ समेतेत्यवग् माम्।
लातुं वेलां तव सुललितं गीतमुद्गातुकामा
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती।। ६३।।

६३. सुभग ! यह प्रातः-सायं मूर्च्छा के अन्त में आर्त-स्वर में रोने लगती थी और रोकने पर मुझ से कहती थी -- "सखि ! बताओ, वे कब आयेंगे।" (दुःख में) अवकाश पाने के लिये जब यह तुम्हारा गीत गाना चाहती थी तब बार-बार किये हुये आरोह और अवरोह को स्वयं भूल जाती थी।

पृष्टा पृष्टा गणकनिचयं जीवितं धारयन्ती
नीत्वा नीत्वां कथमपि दिनान्यंगुलीभिर्लिखन्ती।
गत्वा गत्वा पुनरपि पुनर्द्वारि तस्थौ च गेहे
प्रायेणैते रमणविरहेष्वंगनानां विनोदाः ।।६४।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९४. यह ज्योतिषियों से पूछ कर जीवन धारण करती थी, अंगुलियों से रेखायें खींच खींच कर किसी प्रकार दिन बिताती थी और द्वार पर जा जा कर पुनः गृह में चली जाती थी। प्रायः प्रिय के वियोग में रमणियों के ये ही मनोविनोद हैं।

श्रृंगारं स्वं सुभग ! विरहेंऽङ्गारवत् संत्यजन्ती
दुःखेनाऽलं निजपरिजनं दुःखदिग्धं सृजन्ती।
प्रेम्णा बद्धां निपुण ! भवता तां मुहुः संस्पृशन्ती
गण्डाभोगात् कठिनविषमामेकवेणीं करेण ।।९५।।

९५. हे सुभग ! इस ने अपना श्रृंगार अंगार के समान त्याग दिया है, और दुःख में डूबे अपने परिजनों को और भी दुःखी बना दिया है। हे निपुण ! (कुशल) जिसे आप ने प्रेमपूर्वक बाँधा था, जो कपोलों पर आ जाने के कारण कठोर और विषम (निम्नोन्नत) हो गई थी उस वेणी को बार-बार हाथों से स्पर्श करती रहती है।

नीता रात्रिः क्षण इव पुरा या त्वयेद्धाऽपि सार्द्धं
क्रीडायोगैः सुरतजनितैश्चारुभोगोपभोगैः।
निःश्वासौघैर्निजतनुगतं चन्दनं शोषयन्ती
तामेवोष्णैर्विरहजनितैरश्रुभिर्व्यापयन्ती।।९६।।

९६. पहले अपने शरीर पर स्थित चन्दन को उच्छ्वासों के प्रवाह से सुखाते हुये जो प्रकाश-पूर्ण रात्रि आप के साथ क्रीडाओं एवं सुरतजनित सुन्दर भोगों और उपभोगों से क्षण के समान बीत जाती थी उसी को विरह-जनित उष्ण अश्रुओं से व्याप्त करती रहती है।

दत्त्वा दुःखं मम किमु सुखं हा ! विधातस्त्वयाऽऽप्तं ?
जानात्यन्यो न हि परगतां वेदनां वाऽत्र कश्चित्।
निन्दित्वाऽलं विविधवचनैर्दैवमेवं प्रमीला-
माकांक्षन्ती नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्।।९७।।

९७. "हे विधाता ! हाय, मुझे दुःख देकर तुम ने कौन सा सुख पा लिया है ? यहाँ दूसरे की व्यथा को अन्य कोई नहीं जानता है।" इस प्रकार विविध वचनों से दैव की पर्याप्त निन्दा कर के अश्रु-भार के कारण स्थान न पाने वाली निद्रा की आकांक्षा करती रहती है।

संमृज्याश्रुप्लुतमथ निजं दिक्षु चक्षुः क्षिपन्ती
क्षौमान्तेन स्वमनसि जगज्जानती शून्यमेतत्।
स्मृत्वा स्मृत्वा तव गुणगणं भूमिपीठे लुठन्ती
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनी न प्रबुद्धा न सुप्ता।।९८।।

९८. फिर रेशमी आंचल के छोर से पोंछ कर, अश्रु-पूर्ण नयनों को दिशाओं में डालती हुई, अपने मन में इस जगत को शून्य समझती हुई आपके गुण-गणों को बार-बार स्मरण करके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेघ-युक्त दिन में अधखिली स्थल कमलिनी के समान भू-पृष्ठ पर लुंठित पड़ी रहती है।

आलोक्याऽस्यास्तव विरहजं चेष्टितं यन्न भिन्नं
तज्जानीमो वयमिति निजं वज्रसारं हृदेतत्।
कारुण्यं तत्सदयहृदयाऽत्रोचितं ते विधातुं
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा।।९९।।

९९. आप के विरह से उत्पन्न इस की चेष्टा को देखकर जो विदीर्ण नहीं हो गया उस अपने हृदय को मैं वज्र के समान कठोर मानती हूँ। अतः हे दयालु- हृदय ! आप को इस पर दया करना उचित है क्योंकि प्रत्येक कोमल हृदय वाला मनुष्य दयालु होता है।

अस्मद्वाक्यं यदि न हि भवान् मानयिष्यत्यदोऽपि
प्राणत्यागं तदियमचिरात् सा विधास्यत्यवश्यम्।
भूयो भूयः किमिह बहुना जल्पितेनाऽत्र भावि
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद् भ्रातरुक्तं मया यत्।।१००।।

१००. यदि आप मेरे इस वाक्य को भी नहीं मानेंगे तो यह शीघ्र अवश्य प्राण त्याग देगी। पुनः पुनः कहने से क्या लाभ है? हे बन्धु ! मैंने जो कहा है वह शीघ्र आप को प्रत्यक्ष ज्ञात हो जायेगा।

वार्त्तां व्यग्रां तुदति न तथा त्वद्वियोगोऽहनीमां
यद्धात्रौ कृतबहुशुचं चन्द्ररोचिश्चितायाम्।
पश्यत्वेनां स्वयमपि भवानद्य भूमीशयानां
तामुन्निद्रामवनिशयनासन्नवातायनस्थः।। १०१।।

१०१. बहुत चिंतित रहने वाली कोशा को चाँदनी से भरी रात्रि में आप का वियोग जितना पीडित करता है। उतना दिन में नहीं, क्योंकि उस समय यह बात-चीत में फंसी रहती है।[1] अतः आज आप स्वयं ही भूमि पर बिछी शय्या के ऊपर जो खिड़की है उस में स्थित होकर भूमि पर लेटी और जगती कोशा को देख लें।

विज्ञप्तिं मे सफलय कुरु स्वं मनः सुप्रसन्नं
सख्या साकं मम भज पुनर्देव ! भोगान् विचित्रान्।
वामाक्ष्यस्यास्त्वयि सति मुहुः स्पन्दमेत्य प्रसन्ने
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीव।।१०२।।

१०२. हे देव ! मेरी बिनती सफल करें, अपना मन प्रसन्न करें और मेरी सखी के साथ विचित्र भोग भोगें। आप के प्रसन्न हो जाने पर इस की बायीं आँख बार-बार फड़क कर मछलियों के चलने से कम्पित नील कमल के समान शोभा प्राप्त कर लेगी।

जेष्यत्याऽस्यं प्रमुदितमलं मेघमुक्तस्य शस्यां
शोभामिन्दोर्विकसितरुचेश्चारुरोचिश्चितं साक्
प्राप्ते प्रीतिं भवति सुभगाऽनन्दितायाः किलाऽस्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्त्वम् ।।१०३।।

१०३. हे सुभग ! आप के प्रसन्न हो जाने पर आनन्दित हो जाने वाली इस कोशा का सुन्दर छवि से पूर्ण एवं पर्याप्त मुदित मुख शीघ्र विकसित किरणों वाले मेघमुक्त चन्द्रमा की प्रशंसनीय शोभा को जीत लेगा, और नवीन कदली-स्तम्भ के समान गौर वर्ण इस की जाँघ फड़क उठेगी।

दुःखक्षामा न खलु सहते बाढमाश्लेषमेषा
मद्बाहुभ्यां सदय ! मनसीदं स्वकीये विचार्य।
कार्षीदस्या। प्रथममलिने मा भवान् स्नेहवत्याः
सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम् ।।१०४।।

१०४. हे दयालु ! "यह दुःख से क्षीण कोशा मेरी भुजाओं का सुदृढ़ आलिंगन नहीं सह सकती है।" यह अपने मन में पहले विचार कर इस स्नेहवती का ऐसा प्रगाढ़ आलिंगन न करें, जिससे आप के गले में पड़ी हुई इस की बाहुलता की ग्रन्थि तुरन्त छूट जाये।

त्वामायातं शयनसदने वीक्ष्य लज्जाऽन्वितांगी
नो कुर्याच्चेत् तव सुहृदय ! स्वागतं सा सखी नः।
स्नेहस्निग्धैर्मधुरवचनैराधिमुग्भिस्तदानीं
वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः ।।१०५।।

१०५. हे शोभन- हृदय ! आप को शयन-कक्ष में आया देखकर वह लज्जा से युक्त अंगोवाली हमारी सखी यदि स्वागत न कर सके तो उस समय धैर्य धारण कीजियेगा और मानसिक सन्ताप को दूर करने वाली, प्रेम-भरी एवं मेघ-गर्जना के समान मधुर वाणी में उस मानिनी से संभाषण प्रारम्भ कीजियेगा।

किं काठिन्यं त्यजति न भवानागतोऽपि स्वगेहे
स्वीयां जायां न हि निजदृशा स्नेहतो वीक्षतेऽपि ?
प्रावृट्कालो रचयति मनांस्यध्वगानामयं द्राग्
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि।। १०६।।

१०६. आप अपने घर में आकर भी कठोरता को क्यों नहीं त्यागते हैं और अपनी स्त्री को भी स्नेह-भरी आखों से नहीं देखते हैं ? यह वर्षाकाल गम्भीर मधुर गर्जना से शीघ्र ही पथिकों के मन को स्त्रियों के केशपाश खोलने के लिये उत्सुक बनाता है।

मान्या तेऽहं सुभग ! सततं वच्मि तेनैव बाढं
वाक्यं मे तत् परिणतिशुभं मानयेदं वदान्य !
मत्तो ज्ञात्वा व्यतिकरममुं लप्स्यते निर्वृतिं सा
कान्तोदन्तः सुहृदुपहृतः संगमात् किंचिदूनः ।।१०७।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०७. हे सुभग ! मैं सतत आप के द्वारा मान्य थी निःसन्देह इसी से मैं कह रही हूँ। तो मेरा परिणाम में शुभ फल देने वाला यह वचन मान लीजिये। हे वदान्य ! (उदार) उस वृत्तान्त को जान कर वह आनन्द प्राप्त करेगी क्योंकि मित्र से सुना हुआ प्रिय का वृत्तान्त संगम (संभोग) से थोड़ा ही कम होता है।

स्वामिन् ! जानन्नपि नयविधिं प्रोक्तवानन्यदन्यत्
क्षेमप्रश्नं किमिति न भवानेकवारं चकार ?
विश्वेऽप्यस्मिन् खलु सुखभृतामप्यहो ! दैववश्ये
पूर्वभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ।।१०८।।

१०८. हे स्वामी ! यह आश्चर्य है कि नीतिशास्त्र को जानते हुये भी आप दूसरी-दूसरी बातें ही कह रहे हैं। एक बार भी कुशल-क्षेम का प्रश्न नहीं किया। इस दैवाधीन जगत् में सुखी जीवों के लिये भी सर्व-प्रथम कुशल-क्षेम ही प्रष्टव्य है, फिर विपदापन्न व्यक्तियों की तो बात ही क्या है ?

गेहस्याऽन्तर्व्रजति न भवान् भाषते नाऽपि पत्नीं
सौधेऽपि स्वे वसति परवद् नो भजत्युग्रभोगान्।
लप्स्ये स्वर्गे सुखमिति वृथा चिन्तितैस्तीव्रकृच्छ्रैः
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ।।१०९।।

१०९. वैरी विधाता के द्वारा मार्ग अवरुद्ध हो जाने के कारण आप न तो घर के भीतर जाते हैं, न पत्नी से बात करते हैं और न श्रेष्ठ भोगों का उपभोग करते हैं। अपने प्रासाद में भी दूसरे की तरह रहते हैं। "सोचे गये उन शारीरिक तपों से स्वर्ग में सुख प्राप्त करूँगा।" इस प्रकार के संकल्पों के द्वारा व्यर्थ स्वर्ग में प्रवेश कर रहे हैं।

त्राता नस्त्वं सुभग ! शरणं जीवितव्यं त्वमेव
त्वं नः प्राणा हृदयमसि नस्त्वं पतिस्त्वं गतिर्नः।
ज्ञात्वाऽपीत्थं प्रिय ! परिहरन् नो न किं लज्जसे सा ?
त्वामुत्कण्ठातरलितपदं मन्मुखेनेदमाह ।।११०।।

११०. उस (कोशा) ने उत्कंठा से कम्पित शब्दों में मेरे मुख से इस प्रकार आप से कहा है -- "हे सुभग ! आप ही हमारे रक्षक हैं, आप ही शरण हैं, आप ही हमारे जीवन हैं, आप ही हमारे प्राण हैं, आप ही हमारे हृदय हैं, आप ही हमारे पति हैं और आप ही हमारी गति हैं, इस प्रकार जान कर भी क्या प्रियतम ! तुम्हें लज्जा नहीं आती ?"

श्रुत्वा साधुस्तदुदितमथोवाच कोशां स भूयो
धर्मं श्रीमज्जिननिगदितं वेद् भजेथास्त्वमार्ये !
चातुर्येणाऽखिलयुवतिषु क्ष्मातले तद्विशाले
हन्तैकस्यं क्वचिदपि न ते सुभ्रु ! सादृश्यमस्ति ।।१११।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१११. चतुरा का उपर्युक्त वचन सुन कर स्थूल-भद्र ने फिर कोशा से कहा -- हे सुन्दर भौंहो वाली आर्ये ! यदि तुम तीर्थंकर- द्वारा उपदिष्ट धर्म को स्वीकार कर लो तो इस विशाल भू-तल पर सम्पूर्ण युवतियों में किसी एक में भी तुम्हारी सुन्दरता की समानता नहीं रहेगी।

तुल्यं स्त्रैणं तृणमपि च मे शुद्धशीलप्रभावात्
प्रागासीना भवति भवती येषु येष्वासनेषु।
नेहे ब्रह्मव्रतकृतरतिस्तान्वि ! तत्राऽऽसितुं तत्
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदंगमेभिस्तवेति।।११२।।

११२. शुद्ध चारित्र्य के प्रभाव से मेरे लिये स्त्रियों का समूह और तृण (दोनों) तुल्य हैं। (अतः) "इनके (आसनों) द्वारा तुम्हारे (स्थूल भद्र के) अंग का स्पर्श हो चुका है।" यह सोच कर पहले तुम जिन-जिन आसनों पर बैठ चुकी हो उन पर ब्रह्मचर्य-व्रत में अनुराग रखने वाला मैं बैठ नहीं सकता हूँ।

चातुर्मास्यं समजनि शुभे ! पूर्णमित्सुखेन
त्वद्गेहे मे समभवदहो ! शीलहानिर्न काचित्।
यायां पादानथ निजगुरोर्वन्दितुं कर्मनाशे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः।।११३।।

११३. हे श्रेष्ठे ! तुम्हारे घर में यह चातुर्मास बड़े सुख से व्यतीत हो गया। हर्ष है, मेरी कोई भी शील-हानि नहीं हुई। अब मैं अपने गुरू- चरणों की वन्दना करने के लिये जाऊंगा। कर्म-क्षय होने पर भी यह कठोर सिद्धान्त हम दोनों का मिलन नहीं सहन करता।

धर्मं तावद् भजतु भवती वीतरागप्रणीतं
दानं शीलं तप इह शुभो भाव एवं प्रकारम्।
गन्तव्यं वै सुतनु ! मयका प्रावृषोऽहानि नीत्वा
दिक्संसक्तप्रविरलघनव्यस्तसूर्यातपानि।।११४।।

११४. हे सुन्दर शरीर वाली ! इस संसार में वीत-राग तीर्थंकर द्वारा प्ररूपित दान, शील, तप और भाव- रूप धर्म को स्वीकार करो। जिनमें दिशाओं में संलग्न घने मेघों के द्वारा सूर्य का आतप तिरोहित हो जाता है, उन वर्षा के दिनों को बिता कर मुझे चला जाना है।

ज्ञाते धर्मे जिननिगदिते तेऽपि नो भावि दुःखं
मुग्धे ! तस्मादिह परभवे लप्स्यसे त्वं च सौख्यम्।
अस्मद्धेतो जिनमतगतं नाऽभजत् क्वापि दुःखं
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः।।११५।।

११५. मुग्धे ! तीर्थंकर-द्वारा उपदिष्ट धर्म को जान लेने पर तुम्हें भी दुःख नहीं होगा। जिन-धर्म के आचरण से तुम इस लोक और परलोक में सुख प्राप्त करोगी। प्रगाढ़ ऊष्मा वाली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुम्हारी वियोगव्यथाओं से असहाय हो जाने पर भी जिनमत में स्थित मेरा मन कभी दुःखी नहीं हुआ।

जैने धर्मे कुरु निजमतिं निश्चलां तन्वि ! नित्यं
शीले धेहीहितसुखकरं देहि दानं गुणिभ्यः ।
पापव्यापव्यतिकरजुषां धर्मभाजां च पुंसां
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।।११६।।

११६. हे कृशांगि ! जैन धर्म में अपनी बुद्धि को स्थिर करो। मनोवांछित सुख देने वाले शील में मन लगाओ और गुणियों को दान दो। पापियों और धर्मात्मा पुरुषों की दशा गाड़ी के पहिये की तरह ऊपर और नीचे आती जाती रहती है।

शुद्धिं भद्रे ! रचय तपसा स्वस्य तेनात्मनस्त्वं
दृष्टा क्लृप्तं मुनिभिरतुलं यद् वनस्थैस्त्रिशुद्धया।
हर्षेणोच्चैर्दिवि दिविषदां पुष्पवृष्टया समं याग्
मुक्तास्थूलास्तरुकिशलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति।।११७।।

११७. भद्रे उस तप से तुम अपने आत्मा की शुद्धि करो। वन में रहने वाले मुनियों ने मन, वाणी और शरीर की शुद्धि के द्वारा जो अतुल तप किया है उसे देख कर हर्ष से आकाश में स्थित देवताओं की पुष्प-वृष्टि के साथ-साथ सहसा वृक्षों के नवपल्लवों पर बड़े-बड़े मोती जैसे अश्रु-बिन्दु टपक पड़ते हैं।

कोशा प्रोचे प्रिय ! विगलिता साऽद्य मे भोगतृष्णा
वाक्यैरेभिस्तव हृदि निजे या मयेत्थं धृताऽभूत्।
आवां भूयो विरहविगमे भोगभंगी विचित्रां
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु।।११८।।

११८. कोशा ने कहा -- हे प्रिय ! मैंने अपने हृदय में जिस भोग-तृष्णा को इस प्रकार धारण कर रखा था कि विरह की समाप्ति पर हम दोनों शरत्काल की पूर्ण चन्द्रिकाओं वाली रातों में पुनः विचित्र भोग-भंगिमाओं का आनन्द लेंगे, वह आज आप के इन वचनों से नष्ट हो गई।

स्वामिन् ! धर्माऽमृतरसमयं देहि दिव्यौषधं तद्
येनायं मे तुदति न मनो मन्मथाख्यो विकारः ।
त्वद्वाक्येनोज्झितविषयया यद्दशादद्य रात्रौ
दृष्टः स्वप्नेऽकितव ! रमयन् कामपि त्वं मयेति ।।११९।।

११९. हे स्वामी ! धर्मामृतमय वह दिव्यौषध दें जिससे वह काम नामक विकार मेरे मन को पीड़ित न करें, जिसके वश में होने के कारण हे निश्छल ! तुम्हारे कहने से विषयों को त्याग देने वाली मैंने आज स्वप्न में तुम्हें किसी रमणी से रमण करते देखा है।

इत्युक्तोऽसौ चरणनतया कोशया भक्तिपूर्वं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तद्वृत्तेन प्रमुदितमनाः सादरं साधुराजः ।
प्रादादस्यै भवभयहरं स्वं नमस्कारमन्त्रं
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ।।१२०।।

१२०. जब चरणों पर विनत कोशा ने भक्तिपूर्वक इस प्रकार कहा तब उसके व्यवहार से प्रसन्न उस साधुराज (स्थूलभद्र) ने उसे आदर-सहित सांसारिक भय दूर कर देने वाला अपना नमस्कार मन्त्र दे दिया, क्योंकि प्रेमियों को वांछित वस्तु प्राप्त करा देना ही सज्जनों का प्रत्युत्तर है।

तामूचेऽसौ मनसि सततं मन्त्रमेनं स्मर त्वं
नित्यं भक्त्या त्रिभुवनगुरोर्जन्म सार्थं सृज स्वम्।
शीलेनाऽलं विमलममले ! जैनधर्मं भजेथाः
प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः ।।१२१।।

१२१. हे कोशे ! तुम अपने मन में निरन्तर इस नमस्कार मन्त्र का स्मरण करो और त्रिलोक के गुरू (तीर्थकर) की भक्ति से अपना जन्म सफल बनाओ। हे निर्मलशील से युक्त सुन्दरी! जैन धर्म का पालन करो और प्रातः-काल के कुन्द-पुष्प के समान दुर्बल जीवन को धारण करो।

धन्यंमन्या मुनिवचनतोऽगीचकाराऽखिलं तत्
प्रीतिं भेजे मनसि परमां साऽऽप्तसम्यक्त्वलाभा।
दुष्टे द्वेषं गुरुनिगदिता यान्ति धर्मोपदेशा
इष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति।।१२२।।

१२२. उस कोशा ने सम्यक्त्व प्राप्त कर अपने को धन्य समझते हुये, मुनि-वचन से सम्पूर्ण धर्म को स्वीकार कर लिया और मन में श्रेष्ठ प्रेम की अनुभूति की, क्योंकि गुरू के द्वारा कथित धर्मोपदेश दुर्जनों में द्वेष और सज्जनों में आनन्दवर्धक प्रेम की राशि बन जाते हैं।

भद्रे ! भद्रं भवतु सततं ते जिनेन्द्रप्रसादाद्
नन्तुं पादानथ निजगुरोरेष यास्यामि शश्वान्।
ध्यायन्त्यै श्रीजिनपरिवृढं शीलरत्नेन शश्वद्
मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ।।१२३।।

१२३. हे भद्रे ! तीर्थ-कर की कृपा से तुम्हारा सदा कल्याण हो । अब मैं अपने गुरू के श्रेष्ठ चरणों का वन्दन करने के लिये जाऊँगा। तुम जिनेन्द्र का ध्यान करो एक क्षण भी इस प्रकाशमान शील-रूपी रत्न से तुम्हारा वियोग न हो।

नीत्वा मासानथ स चतुरस्तत्र सच्छीलशाली
गत्वा सूरीन् समयचतुरो भूरिभक्त्या ववन्दे।
तस्थौ गेहे मनसि दधती सा सुखं जैनधर्मं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु ? ।।१२४।।

१२४. इस के अनन्तर वे चतुर सदाचारी वहाँ (कोशा के घर में) चातुर्मास व्यतीत कर गुरू के पास गये और प्रचुर भक्ति से उनका वन्दन किया। कोशा भी कल्याणकारी जैन धर्म को स्वीकार कर घर में रही। श्रेष्ठ जनों से की गई किस की प्रार्थना सफल नहीं होती ?

यात्वा पारं समयजलधेः स्थूलभद्रः स भेजे
सूरीशत्वं भुवि जनमनो रञ्जयामास कामम्।
हित्वा तत्त्वामृततररसैः साऽपि चित्तं स्वमिद्धा-
निष्टान् भोगानविरतसुखं भोजयामास शश्वत्।।१२५।।

१२५. स्थूल-भद्र ने समय- रूपी समुद्र के पार पहुँच कर श्रेष्ठ सूरि के पद को प्राप्त किया और भूतल पर लोगों के मनों को अत्यधिक आनन्दित किया। वह कोशा भी इष्ट भोगों को त्याग कर अपने चित्त को तत्त्वामृत-रूपी रसों के द्वारा सदैव शाश्वत् सुख का आस्वादन कराती रही।

कुर्वन्नुर्वीवलयमखिलं जैनधर्माऽनुरक्तं
व्यक्तं चित्रं विदधदतुलं शीलशक्त्या त्रिलोक्याम्।
भूमीपीठे स्मरहठहरो दीर्घकालं विहारं
चक्रे वक्रेतरमतिरसौ स्थूलभद्रो मुनीन्द्रः।।१२६।।

१२६. सम्पूर्ण धरातल को जैन धर्म में अनुरक्त करते हुये और शील की शक्ति से त्रिलोकी में स्फुट एवं अतुलनीय आश्चर्य उत्पन्न करते हुये उस काम के हठ को हरने वाले, ऋजुबुद्धि, मुनीन्द्र स्थूल- भद्र ने पृथ्वी पर दीर्घ काल तक बिहार किया।

सच्चारित्रं यतिपतिरसौ कर्मवल्लीलवित्रं
दीर्घं कालं कलितविमलज्ञानदानः प्रपाल्य।
भेजे स्वर्गं त्रिदशललनालोचनाब्जाऽर्कतुल्यो
निःशल्यान्तर्निरुपमसुखं वीतनिःशेषदुःखम्।।१२७।।

१२७. जिनके हृदय में शोक नहीं रह गया था, जो देवकामिनियों के लोचल-कमल के लिये सूर्य के समान थे और जो विमल ज्ञान का दान देते रहते थे उन मुनीद्र स्थूल-भद्र ने कामरूपी लतापाश को काटने वाले लवित्र (हसिया) के समान सदाचार का दीर्घ काल तक पालन कर उस स्वर्ग को प्राप्त किया जहाँ अनुपम सुख है और जहाँ समस्त दुःख समाप्त हो जाते हैं।

कोशाऽपि श्रीजिनमतरता शीलमाराध्य सम्यक्
पत्युः स्नेहादिव दिविषदां धाम सा याग् जगाम।
आपद् व्यापद्रहितमतुलं तत्र सातं विशेषा
दत्राऽमुत्र प्रदिशति सुखं प्राणिनां जैनधर्मः।।१२८।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२८. जिन- मत में अनुरक्त वह कोशा भी सम्यक् शील की आराधना कर मानो पति के विशेष स्नेह के कारण शीघ्र स्वर्ग गई और वहाँ उस ने आपत्ति और संकट से शून्य सुख प्राप्त किया। वास्तव में जैन धर्म प्राणियों को इस लोक और परलोक के सुख का उपदेश देता है।

तारायन्ते ततमतिभृतोऽप्यन्यतीर्थ्या इदानीं
विश्वे विश्वे खलु यदमलज्ञानभानुप्रभायाम्।
सोऽयं श्रीमानवनिविदितो रत्नसिंहाख्यसूरि-
र्जीयाद् नित्यं नृपतिमहितः सत्तपोगच्छनेता।।१२९।।

१२९. इस समय सम्पूर्ण विश्व में जिन के विमल ज्ञान- सूर्य के प्रकाश में ज्ञान का विस्तार करने वाले भी अन्य तीर्थ (मत, सम्प्रदाय) तारों जैसे लगते हैं, वे नरपति-पूजित, भूमण्डल में विख्यात सत्तपोगच्छ के नेता (संचालक) श्री रत्नसिंह नामक सूरि सदा जीवित रहें।

शिष्योऽमुष्याऽखिलबुधमुदे दक्षमुख्यस्य सूरे-
श्चारित्रादिर्धरणिवलये सुन्दराख्याप्रसिद्धः।
चक्रे काव्यं सुललितमहो ! शीलदूताभिधानं
नन्द्यात् सार्धं जगति तदिदं स्थूलभद्रस्य कीर्त्या।।१३०।।

१३०. हर्ष है, उन विद्वद्वरेण्य सूरि के चारित्र सुन्दर नाम से पृथ्वी में प्रसिद्ध शिष्य ने सभी विद्वानों के मोद के लिये शील- दूत नामक ललित काव्य की रचना की। यह स्थूल- भद्र की कीर्ति के साथ जगत् में सबको आनन्दित करे।

द्रंगे रंगैरतिकलतरे स्तम्भतीर्थाऽभिधाने
वर्षे हर्षाज्जलधिभुजगाऽम्भोधिचन्द्रे प्रमाणे।
चक्रे काव्यं वरमिह मया स्तम्भनेशप्रसादात्
सद्भिः शोध्यं परहितपरैरस्तदोषैरसादात्।।१३१।।

१३१. मैने आमोद-प्रमोद के कारण अति मनोहर स्तम्भन तीर्थ नामक नगर में स्तम्भनेश्वर की कृपा से १४८४ संवत् में सहर्ष इस श्रेष्ठ काव्य की रचना की। यह दोष-रहित परोपकारी सज्जनों के द्वारा सरलता-पूर्वक (थकावट के बिना) शोध्य है।

- विश्वनाथ पाठक, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1. Studies in Jaina Philosophy — Dr. Nathmal Tatia 100.00
2. Jaina Temples of Western India — Dr. Harihar Singh 200.00
3. Political History of Northern India From Jaina Sources — Dr. G. C. Choudhary 80.00
4. Concept of Matter in Jaina Philosophy — Dr. J. C. Sikdar 150.00
5. Jaina Theory of Reality — Dr. J. C. Sikdar 150.00
6. Jaina Perspective in Philosophy and Religion — Dr. Ramjee Singh 100.00
7. Aspects of Jainology, Vol. II (Pt. Bechardas Commemoration Volume) 250.00
8. Aspects of Jainology, Vol. III (Pt. Malvania Feliciation Volume) 250.00
9. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (सात खण्ड) 560.00
10. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास (दो खण्ड) 340.00
11. जैन प्रतिमा विज्ञान — डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी 120.00
12. वज्जालग्ग (हिन्दी अनुवाद सहित) — विश्वनाथ पाठक 80.00
13. धर्म का मर्म — प्रो० सागरमल जैन 20.00
14. जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ — डॉ० अरुण प्रताप सिंह 70.00
15. प्राकृत-हिन्दी कोश — सम्पादक : डॉ० के० आर० चन्द्र 120.00
16. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन — डॉ० फूलचन्द्र जैन 80.00
17. अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा — प्रो० सागरमल जैन 20.00
18. स्याद्वाद और सप्तभंगी नय — डॉ० भिखारी राम यादव 70.00
19. ऋषिभाषित : एक अध्ययन (हिन्दी एवं अंग्रेजी) — प्रो० सागरमल जैन 30.00
20. अनेकान्त, स्याद्वाद एवं सप्तभंगी — प्रो० सागरमल जैन 10.00
21. जैन-धर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ — डॉ० हीराबाई बोरदिया 50.00
22. मध्यकालीन राजस्थान में जैन-धर्म — डॉ० (श्रीमती) राजेश जैन 160.00
23. जैन कर्म-सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास — डॉ० रवीन्द्र नाथ मिश्र 100.00
24. जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन — डॉ० शिवप्रसाद 100.00
25. महावीर निर्वाणभूमि पावा : एक विमर्श — भगवती प्रसाद खेतान 60.00

पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी – ५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org